संघर्ष और विकास

प्रथम भाग

१–राजकुमार प्रफुल्लचन्द्र
भंजदेव, संसद सदस्य
२–श्री मूलचन्द्र अग्रवाल
बी० ए०
३–पं० ठाकुरदत्त शर्मा, वैद्य

प्रेमनारायण अग्रवाल, एम० ए०

कुछ आत्मकथाएँ

—:o:—
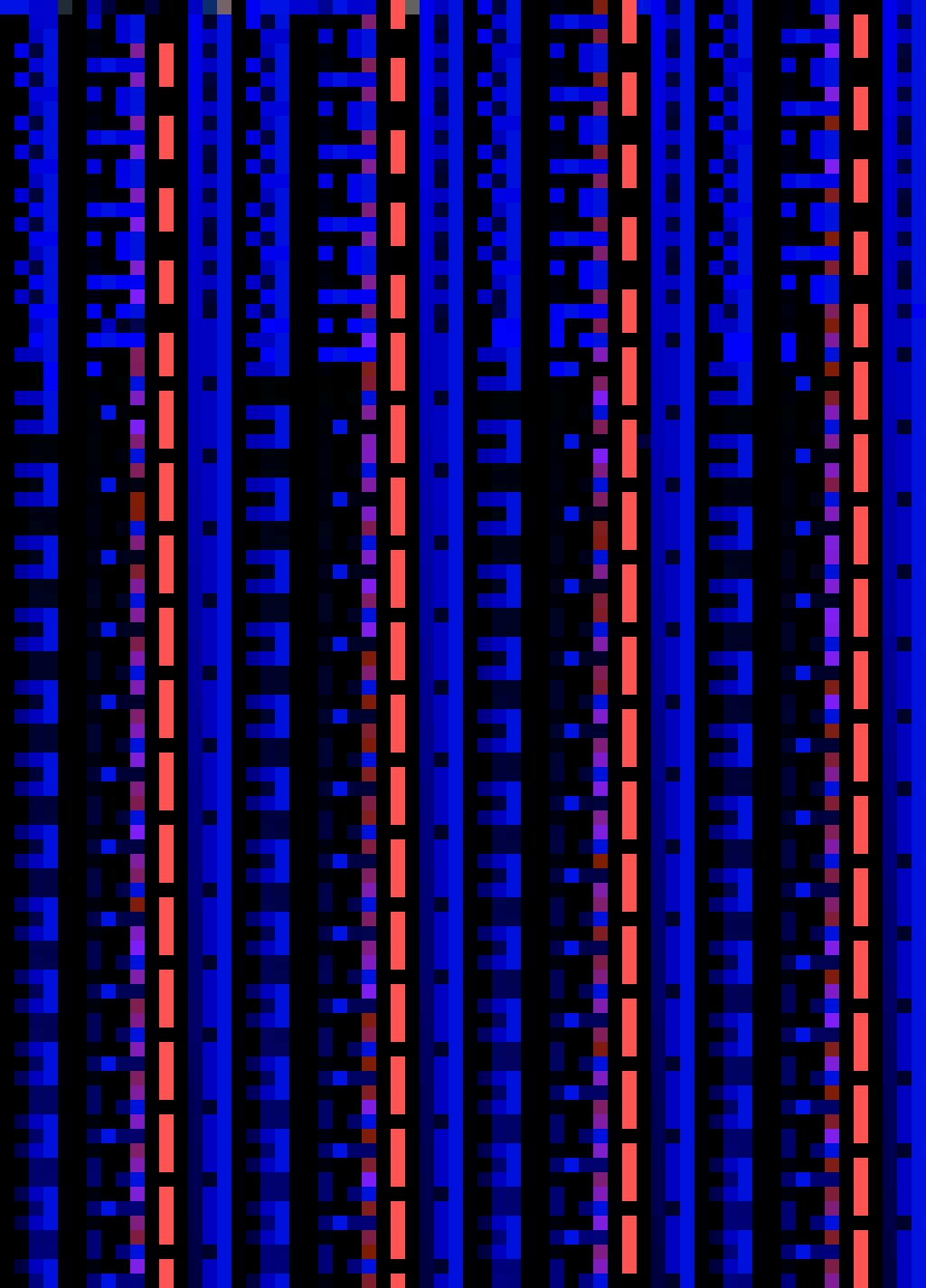
संपादक

महावीर प्रसाद अग्रवाल एम० ए०

अध्यक्ष, हिन्दी-संस्कृत विभाग

दरबार कॉलेज, रीवा

प्रकाशक

रामनारायण लाल

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

इलाहाबाद

पंचम संस्करण] १९५२ [मूल्य १।)

कुछ आत्मकथाएँ

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्यायात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥

दो शब्द

भारतीय प्रवृत्ति सदैव से आत्म-विज्ञापन के विरुद्ध रही है। इसी लिये हमारे महात्माओं, नेताओं तथा साहित्यस्रष्टाओं ने अपने विषय में कभी कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं समझी, जिसके परिणाम-स्वरूप राष्ट्रभाषा हिन्दी ही नहीं अन्य भारतीय भाषाओं में भी आत्म-कथाओं का प्रायः अभाव ही है। लेकिन अब हमारे महापुरुष साहित्य के इस उपेक्षित अंग की ओर अधिकाधिक आकर्षित हो रहे हैं।

कहानी, उपन्यास तथा नाटक की तरह आत्मकथा भी साहित्य का एक विशिष्ट अंग है। इसका स्वरूप सत्य, सुन्दर और कल्याणकारी तो होता ही है; किसी शैली-विशेष का प्रतिबन्ध न होने से वर्णन भी सीधा, सरल और स्पष्ट होता है, जिसकी रोचकता पाठक को एकदम मुग्ध कर लेती है! मनुष्य के सुख-दुःख की सच्ची कहानी होने से पाठक को उस पर तुरन्त विश्वास भी हो जाता है और उसका प्रभाव स्थायी-रूप से अङ्कित हो जाता है। जीवन में नव-स्फूर्ति का संचार करने में आत्मकथा की सफलता असंदिग्ध है।

इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर इस छोटी-सी पुस्तक में कुछ प्रमुख आत्मकथाओं का संकलन किया गया है। आशा है कि नवयुवक विद्यार्थी, इससे प्रेरणा और नवजीवन प्राप्त करेंगे तथा आत्मकथा-साहित्य पढ़ने के लिए प्रेरित होंगे। इस विषय की पठनीय पुस्तकों की एक सूची परिशिष्ट-रूप में दे दी गई है।

—म० प्र० अग्रवाल

विषय-सूची

—:०:—

महात्मा गाँधी

[महात्मा गाँधी वर्तमान युग के विश्ववन्द्य महापुरुष थे। अपने भक्तों के आग्रह से संवत् १९८२ के लगभग आपने अपनी जीवनगाथा गुजराती 'नवजीवन' में 'सत्य के प्रयोग' शीर्षक देकर धारावाहिक रूप से लिखी थी। इस सम्पूर्ण कथा का अंग्रेजी रूपान्तर Experiments with truth के नाम से प्रकाशित हुआ था और हिन्दी अनुवाद 'आत्मकथा' के नाम से। प्रस्तुत अवतरण उसी से उद्धृत किये गए हैं। इनसे इस बात पर प्रकाश पड़ता है कि अपने जीवन के प्रारम्भिक काल में भी महात्मा जी सत्य पालन तथा धर्मानुकूल आचरण के लिए कितने सतर्क रहते थे।]

महात्मा गाँधी

शिक्षा, धर्म और आहार

हाई स्कूल में

जब मेरा विवाह हुआ तब मैं हाई स्कूल में पढ़ता था। उस समय हम तीनों भाई एक स्कूल में पढ़ते थे। बड़े भाई बहुत ऊपर के दरजे में थे और जिन भाई का विवाह मेरे साथ हुआ वह मुझ से एक दरजे आगे थे। विवाह का परिणाम यह हुआ कि हम दोनों भाइयों का एक साल बेकार गया। मेरे भाई को तो और भी बुरा परिणाम भोगना पड़ा। विवाह के पश्चात वह विद्यालय में रह ही न सके। परमात्मा जानते हैं, विवाह के कारण कितने नवयुवकों को ऐसे अनिष्ट परिणाम भोगने पड़ते हैं! विद्याध्ययन और विवाह ये दोनों बातें हिन्दू-समाज में ही एक-साथ हो सकती हैं।

मेरा अध्ययन चलता रहा। हाई-स्कूल में मैं मूर्ख नहीं माना जाता था। शिक्षकों का प्रेम-सम्पादन हमेशा करता रहता। हर साल माँ-बाप को विद्यार्थी की पढ़ाई तथा चाल-चलन के संबंध में प्रमाण-पत्र भेजे जाते। उनमें किसी दिन मेरी पढ़ाई या चाल-चलन की शिकायत नहीं की गई। दूसरे दरजे के बाद तो इनाम भी पाये और पाँचवें तथा छठे दरजे में तो क्रमशः ४)

और १०) मासिक की छात्रवृत्तियाँ भी मिली थीं। छात्रवृत्ति मिलने से मेरी योग्यता की अपेक्षा तकदीर ने ज्यादा मदद की। ये छात्रवृत्तियाँ सब लड़कों के लिये नहीं थीं, और उस समय चालीस-पचास विद्यार्थियों की कक्षा में सोरठ प्रांत के विद्यार्थी बहुत नहीं हो सकते थे।

अपनी तरफ से तो मुझे यह याद पड़ता है कि मैं अपने को बहुत योग्य न समझता था। इनाम अथवा छात्रवृत्ति मिलती तो मुझे आश्चर्य होता; परन्तु हाँ, अपने आचरण का मुझे बड़ा खयाल रहता था। सदाचार में यदि चूक होती तो मुझे रोना आ जाता। यदि मुझ से कोई ऐसा काम बन पड़ता कि जिसके लिये शिक्षक को उलाहना देना पड़े, अथवा उनका ऐसा खयाल भी हो जाय, तो यह मेरे लिये असह्य हो जाता। मुझे याद है कि एक बार मैं पिटा भी था। मुझे इस बात पर तो दुःख न हुआ कि पिटा; परन्तु इस बात का महादुःख हुआ कि मैं दण्ड का पात्र समझा गया। मैं फूट-फूट कर रोया। यह घटना पहली अथवा दूसरी कक्षा की है। उस समय दोराबजी एदल जी गीमी हेडमास्टर थे। वह विद्यार्थी-प्रिय थे। क्योंकि वह नियमों का पालन करवाते, विधिपूर्वक काम करते और काम लेते तथा पढ़ाई अच्छी करते। उन्होंने ऊँचे दरजे के विद्यार्थियों के लिए कसरत, क्रिकेट लाजिमी करदी थी। मेरा मन उसमें न लगता था। लाजिमी होने के पहले तो मैं कसरत, क्रिकेट या फुटवाल

में कभी न जाता था। न जाने मेरा झेंपूपन भी एक कारण था। अब मैं देखता हूँ कि कसरत की वह अरुचि मेरी भूल थी। उस समय मेरे ऐसे गलत विचार थे कि कसरत का शिक्षा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। पीछे जाकर मैंने समझा कि व्यायाम अर्थात् शारीरिक शिक्षा के लिए भी विद्याध्ययन में उतना ही स्थान होना चाहिये जितना मानसिक शिक्षा को है।

फिर भी मुझे कहना चाहिए कि कसरत में न जाने से मुझे कोई नुकसान न हुआ! इसका कारण है। पुस्तकों में मैंने पढ़ा था कि खुली हवा में घूमना अच्छा होता है। यह मुझे पसन्द आया और अब तभी से घूमने जाने की आदत मुझे पड़ गई थी जो अब तक है। घूमना भी एक प्रकार का व्यायाम है। और इस कारण मेरा शरीर थोड़ा बहुत सुसंगठित हो गया।

अरुचि का दूसरा कारण था पिताजी की सेवा-शुश्रूषा करने की तीव्र इच्छा। स्कूल बन्द होते ही तुरन्त घर पहुँच कर उनकी सेवा में जुट जाता। जब कसरत लाजिमी कर दी गई तब इस सेवा में विघ्न उपस्थित होने लगा। मैंने अनुरोध किया कि पिताजी की सेवा करने के लिए कसरत से माफी मिलनी चाहिए, परन्तु गीमी साहब क्योंकर माफी देने लगे? एक शनिवार को सुबह का स्कूल था। शाम को ४ बजे कसरत में जाना था। मेरे पास घड़ी न थी। आकाश मेंबादल छा रहे थे, इस कारण समय का पता न रहा। बादलों से मुझे धोखा हुआ।

जब तक कसरत के लिए पहुँचता हूँ तब तक तो सब लोग चले गये थे। दूसरे दिन गीमी साहब ने हाजिरी देखी तो गैर हाजिर पाया। मुझसे कारण पूछा। कारण तो जो था, सो ही मैंने बतलाया। उन्होंने उसे सच न माना और मुझ पर एक या दो आना (ठीक याद नहीं कितना) जुर्माना हो गया। मुझे इस बात से अत्यन्त दुःख हुआ कि मैं झूठा समझा गया। मैं यह कैसे साबित करता कि मैं झूठ नहीं बोला। पर कोई उपाय न रहा था। मन मसोस कर रह जाना पड़ा। मैं रोया और समझा कि सच बोलने वाले और सच करने वाले को गाफिल भी न रहना चाहिए। अपनी पढ़ाई के दरम्यान मुझसे ऐसी गफलत वह पहली और आखिरी थी। मुझे कुछ-कुछ स्मरण है कि अन्त को मैं वह जुर्माना माफ करा पाया था।

अन्त को कसरत से छुट्टी मिल गई। पिताजी की चिट्ठी जब हेडमास्टर को मिली कि मैं अपनी सेवा-सुश्रूषा के लिये स्कूल के बाद इसे अपने पास चाहता हूँ, तब जाकर उससे छुटकारा मिला।

व्यायाम की जगह मैंने घूमना जारी रखा। इस कारण शरीर से मेहनत न लेने की भूल के लिए शायद मुझे सजा न भोगनी पड़ी हो; परन्तु एक दूसरी भूल की सजा मैं आज तक पा रहा हूँ। पढ़ाई में खुशखत होने की जरूरत नहीं, यह कुबुद्धि मेरे मन में जाने कहाँ से आ गई थी, जो ठेठ विलायत जाने तक रही। फिर, और खास कर दक्षिण अफ्रीका में जहाँ

वकीलों के और दक्षिण अफ्रीका में जन्मे और पढ़े नवयुवकों के मोती के दाने की तरह अक्षर देखे, तब तो मैं बहुत लजाया और पछताया। मैंने देखा कि खत का खराब होना अधूरी शिक्षा की निशानी है। मैंने पीछे से अपना खत सुधारने की कोशिश भी की; परन्तु पक्के घड़े पर मिट्टी चढ़ सकती है? जिस बात की अवहेलना मैंने जवानी में की उसे मैं फिर आज तक न सुधार सका। हरएक नवयुवक और युवती मेरे उदाहरण को देख कर चेते और समझे कि अच्छा खत विद्या का आवश्यक अंग है। खत सुधारने के लिए लेखन-कला आवश्यक है। मैं तो अपनी यह राय बना रहा हूँ कि बालकों को आलेखन-कला पहले सीखनी चाहिए। जिस प्रकार पक्षियों और वस्तुओं आदि को देख कर बालक उन्हें याद रखता और आसानी से पहचान लेता है। उसी प्रकार अक्षरों को भी पहचानने लगता है और जब आलेखन-कला सीख कर चित्र इत्यादि निकालना सीख जाता है तब यदि अक्षर लिखना सीखे तो उसके अक्षर छापे की तरह हो जावें।

इस समय के मेरे विद्यार्थी-जीवन की दो बातें उल्लेख करने योग्य हैं। विवाह की बदौलत जो मेरा एक साल टूट गया था उसकी कसर दूसरी कक्षा में पूरी कराने की प्रेरणा मास्टर साहब ने की। परिश्रमी विद्यार्थियों को ऐसा करने की इजाजत उन दिनों तो मिलती थी। अतएव मैं छः महीने तीसरे दरजे में

रहा और गर्मियों की छुट्टियों के पहले वाली परीक्षा के बाद चौथे दरजे में ले लिया गया। इस कक्षा से कुछ विषयों की शिक्षा अंग्रेजी में दी जाती है पर अंग्रेजी मैं कुछ न समझ पाता। भूमिति रेखागणित चौथे दरजे से शुरू होती है। एक तो मै उसमें पीछे था, और फिर समझ में भी कुछ न आता था। भूमिति शिक्षक समझाते तो अच्छे थे, पर मेरी कुछ समझ ही मे न आता था। मैं बहुत बार निराश हो जाता; कभी-कभी यह भी दिल में आता कि दो दरजों की पढ़ाई एक साथ करने से तो अच्छा हो कि मैं तीसरी कक्षा में ही फिर चला जाऊँ। पर ऐसा करने से मेरी बात बिगड़ती और जिस शिक्षक ने मेरी मिहनत पर विश्वास रख कर दरजा बढ़ाने की सिफारिश की थी उनकी भी बात बिगड़ती! इस भय से नीचे उतरने का विचार तो बन्द ही रखना पड़ा। परिश्रम करते जब 'युक्लिड' के तेरहवें प्रमेय तक पहुँचा तब मुझे एकाएक लगा कि भूमिति तो सबसे सहज विषय है। जिस बात में केवल बुद्धि का सीधा और सरल उपयोग करना है उसमें मुश्किल क्या है ? उसके बाद से भूमिति मेरे लिये सहज और सरल विषय हो गया।

संस्कृत मुझे रेखागणित से भी अधिक मुश्किल मालूम पड़ी। रेखागणित में तो रटने की कोई बात न थी; परन्तु संस्कृत में मेरी दृष्टि से, सब रटना था। यह विषय भी चौथी कक्षा से शुरू होता था। छठी कक्षा में जाकर मेरा दिल तो बैठ गया।

संस्कृत शिक्षक बड़े सख्त आदमी थे। विद्यार्थियों को बहुतेरा पढ़ा देने का लोभ उन्हें रहा करता। संस्कृत-वर्ग और फारसी-वर्ग में एक प्रकार की प्रतिस्पर्धा रहती। फारसी के मौलवी साहब नरम आदमी थे। विद्यार्थी लोग आपस में बातें करते कि फारसी बड़ी सरल है, और मौलवी साहब भी भले आदमी हैं। विद्यार्थी जितना याद करता है, उतने ही पर वे निभा लेते हैं। सहज होने की बात से मैं ललचाया और एक दिन फारसी के दरजे में जाकर बैठा। संस्कृत-शिक्षक को इससे दुःख हुआ। उन्होंने मुझे बुलाया। "यह तो सोचो कि तुम किसके लड़के हो? अपने धर्म की भाषा तुम नहीं पढ़ना चाहते? तुमको जो कठिनाई हो सो मुझे बताओ। मै तो समस्त विद्यार्थियों को अच्छी संस्कृत पढ़ाना चाहता हूँ। आगे चल कर तो उसमें रस की घूँटें मिलेंगी। तुमको इस तरह निराश न होना चाहिए। फिर तुम मेरी कक्षा मे आकर बैठो।" मैं शरमिन्दा हुआ। शिक्षक के प्रेम की अवहेलना न कर सका। आज मेरी आत्मा कृष्णशंकर मास्टर का उपकार मानती है, क्योंकि जितनी संस्कृत मैंने उस समय पढ़ी थी यदि उतनी भी न पढ़ा होता तो आज मैं संस्कृत-शास्त्रों का जो आनन्द ले रहा हूँ वह न ले पाता। बल्कि मुझे तो इस बात का पश्चात्ताप रहता है कि मैं अधिक संस्कृत न पढ़ सका। क्योंकि आगे चल कर मैंने समझा कि किसी भी हिन्दू-बालक को संस्कृत का अच्छा अध्ययन किये बिना न रहना चाहिए।

अब तो मैं यह मानता हूँ कि भारतवर्ष के उच्च शिक्षण-क्रम में मातृभाषा के उपरान्त राष्ट्र-भाषा हिन्दी, संस्कृत, फारसी, अरबी और अंग्रेजी के लिए भी स्थान होना चाहिए। इतनी भाषाओं की गिनती से किसी को डर जाने की जरूरत नहीं। यदि विधि-पूर्वक भाषायें पढ़ाई जायँ और सब विषयों का अध्ययन अंग्रेजी के द्वारा कराने का बोझ हम पर न हो तो पूर्वोक्त भाषायें भार-रूप न मालूम हों बल्कि उनमें बड़ा रस आने लगे। फिर जो एक भाषा को विधि-पूर्वक सीख लेता है उसे दूसरी भाषाओं का ज्ञान सुगमता से हो जाता है। सच पूछिए तो हिन्दी, गुजराती, संस्कृत इन्हें एक ही भाषा माननी चाहिए। यही फारसी और अरबी के लिए कह सकते हैं। फारसी यद्यपि संस्कृत के जैसी है, और अरबी हिब्रू के जैसी, तथापि दोनों भाषायें इस्लाम के प्रादुर्भाव के पश्चात् फली-फूली हैं। इसलिए दोनों में निकट सम्बन्ध है। उर्दू को मैंने पृथक् भाषा नहीं माना, क्योंकि उसके व्याकरण का समावेश हिन्दी में होता है। उसके शब्द फारसी और अरबी ही हैं। ऊँचे दरजे की उर्दू जानने वाले के लिए अरबी और फारसी जानना आवश्यक होता है, जैसा उच्चकोटि की गुजराती, हिन्दी, बंगला, मराठी जानने वाले के लिये संस्कृत जानना जरूरी है।

धर्म की झलक

छः-सात साल की उम्र से लेकर १६ वर्ष तक विद्याध्ययन

किया, परन्तु स्कूल में कहीं धर्म-शिक्षा न मिली। जो चीज शिक्षकों के पास से सहज ही मिलनी चाहिए, वह न मिली। फिर भी वायु-मण्डल में से तो कुछ-न-कुछ धर्म-प्रेरणा मिला करती थी। यहाँ धर्म का व्यापक अर्थ करना चाहिए। धर्म से मेरा अभिप्राय है आत्म-साक्षात्कार से, आत्म-ज्ञान से।

वैष्णव-सम्प्रदाय में जन्म होने के कारण बारबार 'हवेली' जाना होता था। परन्तु उसके प्रति श्रद्धा न उत्पन्न हुई। हवेली का वैभव मुझे पसन्द न आया। हवेलियों में होने वाले अनाचारों की बातें सुन-सुन कर मेरा मन उनके सम्बन्ध में उदासीन हो गया। वहाँ से मुझे कुछ धर्म-प्रेरणा न मिली।

परन्तु जो चीज मुझे हवेली से न मिली, वह अपनी दाई के पास से मिली। वह हमारे कुटुम्ब में पुरानी नौकरानी थी। उसका प्रेम मुझे आज भी याद आता है। मैं पहले कह चुका हूँ कि मैं भूत-प्रेत से डरा करता था। रम्भा ने मुझे बताया कि इसकी दवा राम नाम है। राम नाम की अपेक्षा रम्भा पर मेरी अधिक श्रद्धा थी। इसलिए बचपन में मैंने भूत-प्रेतादि से बचने के लिए राम-नाम का जप शुरू किया। यह सिलसिला यों बहुत दिन तक जारी न रहा; परन्तु बचपन में जो बीजारोपण हुआ वह व्यर्थ न गया। राम-नाम जो आज मेरे लिए अमोघ-शक्ति हो गया है, उसका कारण वह रम्भाबाई का बोया हुआ बीज ही है।

मेरे चचेरे भाई रामायण के भक्त थे। इसी अर्से में उन्होंने हम दो भाइयों को 'राम-रक्षा' का पाठ सिखाने का प्रबन्ध किया। हमने उसे मुखाग्र करके प्रातःकाल स्नान के बाद पाठ करने का नियम बनाया। जब तक पोरबन्दर में रहे, तब तक तो यह निभता रहा। राजकोट के वातावरण में उसमें शिथिलता आ गई। इस क्रिया पर भी कोई खास श्रद्धा न थी। दो कारणों से 'राम-रक्षा' का पाठ करता था। एक तो बड़े भाई को मैं आदर की दृष्टि से देखता था, दूसरे मुझे गर्व था कि मैं 'राम-रक्षा' का पाठ शुद्ध उच्चारण-सहित करता हूँ।

परन्तु जिस चीज ने मेरे दिल पर गहरा असर डाला, वह तो थी रामायण का पारायण। पिताजी की बीमारी का बहुतेरा समय पोरबन्दर में गया। वहाँ वह रामजी के मन्दिर में रोज रात को रामायण सुनते। कथा कहने वाले थे रामचन्द्रजी के परम-भक्त बीलेश्वर के लाधा महाराज। उनके सम्बन्ध में यह आख्यायिका प्रसिद्ध थी कि उन्हें कोढ़ हो गया था। उन्होंने कुछ न दवा की—सिर्फ बीलेश्वर महादेव पर चढ़े हुए बिल्व पत्रों को कोढ़ वाले अंगों पर बाँधते रहे, और राम-नाम का जप करते रहे। अन्त में उनका कोढ़ समूल नष्ट हो गया। यह बात चाहे सच हो या झूठ, हम सुनने वालों ने तो सच ही मानी। हाँ, यह जरूर सच है कि लाधा महाराज ने जब कथा आरम्भ की थी, तब उनका शरीर बिल्कुल नीरोग था। लाधा महाराज का स्वर

मधुर था। वह दोहा चौपाई गाते और अर्थ समझाते। खुद उसमें लीन हो जाते और श्रोताओं को भी लीन कर देते। मेरी अवस्था इस समय कोई १३ साल की होगी; पर मुझे याद है कि उनकी कथा में मेरा बड़ा मन लगता था। रामायण पर जो मेरा अत्यन्त प्रेम है, उसका पाया, यही रामायण-श्रवण है। आज मैं तुलसीदास की रामायण को भक्ति-मार्ग का सर्वोत्तम ग्रन्थ मानता हूँ।

कुछ महीने बाद हम राजकोट आये। वहाँ ऐसी कथा न होती थी। हाँ, एकादशी को भागवत अलबत्ता पढ़ी जाती थी। कभी-कभी मैं वहाँ जाकर बैठता; परन्तु कथा-पण्डित उसे रोचक न बना पाते थे। आज मैं समझता हूँ कि भागवत ऐसा ग्रन्थ है कि जिसे पढ़कर धर्म-रस उत्पन्न किया जा सकता है। मैंने उसका गुजराती अनुवाद बड़े चाव भाव से पढ़ा है। परन्तु मैंने जब भारत-भूषण पण्डित मदनमोहन मालवीयजी के श्री-मुख से मूल-संस्कृत के कितने ही अंश सुने तब मुझे ऐसा लगा कि बचपन में यदि उनके सदृश भगवद्भक्त के मुँह से भागवत सुनी होती, तो बचपन में ही मेरी गाढ़ प्रीति उस पर जम जाती। मैं अच्छी तरह इस बात को अनुभव कर रहा हूँ कि बचपन में पड़े शुभ-अशुभ संस्कार बड़े गहरे हो जाते हैं और इसीलिये यह बात अब मुझे बहुत खल रही है कि लड़कपन में कितने ही अच्छे ग्रंथों का श्रवण-पठन न हो पाया।

राजकोट में मुझे सब सम्प्रदायों के प्रति समानभाव रखने की शिक्षा अनायास मिली। हिन्दू-धर्म के प्रत्येक सम्प्रदाय के प्रति आदर-भाव रखना सीखा; क्योंकि माता-पिता हवेली भी जाते थे, राम-मन्दिर भी जाते थे और हम भाइयों को भी ले जाते अथवा भेज देते थे।

फिर पिताजी के पास एक-न-एक जैन-धर्माचार्य अवश्य आया करते। पिताजी भिक्षा देकर उनका आदर-सत्कार भी करते। वे पिताजी के साथ धर्म तथा व्यवहार-चर्चा किया करते। इसके सिवा पिताजी के मुसलमान तथा फारसी मित्र भी थे। बहुत वार अपने-अपने धर्म की वातें सुनाया करते और पिताजी आदर और प्रेम-भाव के साथ उनकी वातें सुनते। मैं पिताजी का 'नर्स' था। इसलिये ऐसी चर्चा के समय में भी प्रायः उपस्थित रहा करता था। इस सारे वायुमण्डल का यह असर हुआ कि मेरे मन में सब धर्मों के प्रति समानभाव पैदा हुआ

हाँ, ईसाई-धर्म इसमें अपवाद था। उसके प्रति तो जरा अरुचि ही उत्पन्न हो गई। इसका कारण था। उस समय हाई स्कूल के एक कोने में एक ईसाई व्याख्यान दिया करते। वह हिन्दू-देवताओं और हिन्दू-धर्म वालों की निन्दा किया करते। यह मुझे सहन न होता। मैं एकाध ही बार इन व्याख्यानों को सुनने के लिये खड़ा रहा हूँगा, पर फिर वहाँ खड़ा होने को जी न चाहा। इसी समय सुना कि एक प्रसिद्ध हिन्दू ईसाई हो गये हैं। गाँव

में यह चर्चा फैली हुई थी कि उन्हें जब ईसाई बनाया गया तब गो-मांस खिलाया गया और शराब पिलाई गई। उनका लिबास भी बदल दिया गया और ईसाई होने के बाद वह कोट-पतलून और हैट लगाने लगे। यह देखकर मुझे व्यथा पहुँची। जिस धर्म में जाने के लिये गो-मांस खाना पड़ता हो, शराब पीनी पड़ती हो और अपना पहनावा बदलना पड़ता हो, उसे क्या धर्म कहना चाहिये? मेरे मन में यह विचार उत्पन्न हुआ। फिर तो यह भी सुना कि ईसाई होने पर वह महाशय अपने पूर्वजों के धर्म की, रीति-रिवाज की, और देश की भर पेट निन्दा करते फिरते हैं। इन सब बातों से मेरे मन में ईसाई-धर्म के प्रति अरुचि उत्पन्न हो गई।

इस प्रकार यद्यपि दूसरे धर्मों के प्रति समभाव उत्पन्न हुआ, तो भी यह नहीं कह सकते कि ईश्वर के प्रति मेरे मन में श्रद्धा थी। इस समय पिताजी के पुस्तक-संग्रह में से मनुस्मृति का भाषांतर मेरे हाथ पड़ा। उसमें सृष्टि की उत्पत्ति, आदि का वर्णन पढ़ा। उस पर श्रद्धा न जमी। उलटे कुछ नास्तिकता आ गई। मेरे दूसरे चचेरे भाई जो अभी मौजूद हैं, उनकी बुद्धि पर मुझे विश्वास था। उनके सामने मैंने अपनी शंकायें रक्खीं। परन्तु वह मेरा समाधान न कर सके। उन्होंने उत्तर दिया—'बड़े होने पर इन प्रश्नों का उत्तर तुम्हारी बुद्धि अपने आप देने लगेगी। ऐसे-ऐसे सवाल बच्चों को न पूछने चाहिए।' मैं चुप हो

रहा, पर मन को शान्ति न मिली। मनुस्मृति के खाद्याखाद्य-प्रकरण में तथा दूसरे प्रकरणों में भी प्रचलित प्रथा का विरोध दिखाई दिया। इस शंका का उत्तर भी मुझे प्रायः ऊपर लिखे अनुसार ही मिला। तब यह सोचकर मन को समझा लिया कि जिस दिन बुद्धि की शक्ति बढ़ेगी, तब अधिक पठन और मनन करूँगा और समझूँगा।

मनुस्मृति को पढ़ कर मैं उस समय तो उससे अहिंसा की प्रेरणा पा न सका। मांसाहार की बात ऊपर आ ही चुकी है उसे तो मनुस्मृति का भी सहारा मिल गया। यह भी जँचता था कि साँप-खटमल आदि को मारना नीति-विहित है। इस समय, मुझे याद है, मैंने धर्म समझकर खटमल इत्यादि को मारा है।

पर एक बात ने मेरे दिल पर अच्छी जड़ जमाली। सृष्टि नीति के पाये पर खड़ी है, नीति-मात्र का समावेश सत्य में होता है। पर सत्य की खोज तो अभी बाकी है। दिन-दिन सत्य की महिमा मेरी दृष्टि में बढ़ती गई, सत्य की व्याख्या विस्तार पाती गई और अब भी पाती जा रही है।

फिर एक नीति-विषयक छप्पय तो हृदय में अंकित हो गया। अपकार का बदला अपकार नहीं बल्कि उपकार हो सकता है, यह बात जीवन-सूत्र बन बैठी। उसने मुझ पर अपनी सत्ता जमाना शुरू किया। अपकार करने वाले का भला चाहना और

करना मेरे अनुराग का विषय हो चला। उसके अगणित प्रयोग किये। वह चमत्कारी छप्पय यह है—

पाणी आपने पाय, भलु भोजन तो दीजे,
आवी नमावे शीश, दण्डवत कोडे कीजे।
आपण घासे दाम, काम महोरो नुं करीए,
आप उगारे प्राण ते तणा दुःख मां मरीए।
गुण केडे तो गुण दश गणों; मन वाचा कर्मे करी,
अवगुण केडे जे गुण करे ते जगमां जीत्यों सही॥ †

आहार

जैसे-जैसे मैं जीवन के विषय में गहरा विचार करता गया तैसे-तैसे बाहरी और भीतरी आचार में परिवर्तन करने की आवश्यकता मालूम होती गई। जिस गति से रहन-सहन में अथवा खर्च-वर्च में परिवर्तन आरम्भ हुआ, उसी गति से अथवा उससे भी अधिक वेग से भोजन में परिवर्तन प्रारम्भ हुआ। अन्नाहार-विषयक अंग्रेजी पुस्तकों में मैंने देखा कि लेखकों ने

---

† जल फल का उपहार पेट भर भोजन दीजै।
समुद नमन के लिए दण्डवत प्यारे कीजै॥
कौड़ी पाकर मित्र, मुहर बदले में देना।
होवे कष्ट—सहाय, प्राण उसके हित देना॥
गुण के बदले दस गुना, गुण करना यह धर्म है।
अवगुण बदले गुण करे, सत्य-धर्म का मर्म है॥

बड़ी छान-बीन के साथ विचार किया है। अन्नाहार पर उन्होंने धार्मिक, वैज्ञानिक, व्यावहारिक और वैद्यक की दृष्टि से विचार किया था। नैतिक दृष्टि से उन्होंने यह दिखाया कि मनुष्य को जो सत्ता पशु-पक्षी पर प्राप्त हुई है वह उनको मार कर खाने के लिए नहीं, बल्कि उनकी रक्षा के लिए है; अथवा जिस प्रकार मनुष्य एक-दूसरे का उपयोग करता है परन्तु एक-दूसरे को खाता नहीं, उसी प्रकार पशु-पक्षी भी उपयोग के लिए हैं, खा डालने के लिये नहीं। फिर उन्होंने यह भी दिखाया कि खाना भी भोग के लिए नहीं, बल्कि जीने के लिए ही है। इस पर से कुछ लोगों ने भोजन में मांस ही नहीं, अण्डे और दूध तक को निषिद्ध बताया। विज्ञान की तथा मनुष्य की शरीर-रचना की दृष्टि से कुछ लोगों ने यह अनुमान निकाला कि मनुष्य को खाना पकाने की बिलकुल आवश्यकता नहीं। उसकी सृष्टि तो सिर्फ पेड़ पर पके फलों को ही खाने के लिये हुई है। दूध वह सिर्फ माता का ही पी सकता है। दाँत निकलने के बाद उसे ऐसा ही खाना खाना चाहिये, जो चबाया जा सके। वैद्यक की दृष्टि से उन्होंने मिर्च-मसाले को त्याज्य ठहराया और व्यवहारिक तथा आर्थिक दृष्टि से बताया कि सस्ते-से-सस्ता भोजन अन्न ही है। इन चारों दृष्टि-बिन्दुओं का असर मुझ पर हुआ और अन्नाहार वाले भोजनालयों में चारों दृष्टि-बिन्दु रखने वाले लोगों से मुलाकात बढ़ाने लगा। विलायत में ऐसे विचार रखने वालों की एक संस्था थी। उसकी

ओर से एक साप्ताहिक पत्र भी निकलता था । मैं उसका ग्राहक बना और संस्था का भी सभासद हुआ । थोड़े ही समय में मै उसकी कमेटी में ले लिया गया । यहाँ मेरा उन लोगों से परिचय हुआ जो अन्नाहारियों के स्तम्भ माने जाते हैं । अब मैं अपने भोजन-सम्बन्धी प्रयोग में उलझता गया ।

घर से जो मिठाई, मसाले आदि मँगाये थे मना कर दिया, और अब मन दूसरी ही तरफ दौड़ने लगा । इससे मिर्च-मसाले का शौक मन्द पड़ता गया और जो साग रिचमंड में मसाले बिना फीका मालूम होता था वह अब केवल उबाला हुआ होने पर भी स्वादिष्ट लगने लगा । ऐसे अनेक अनुभवों से मैंने जाना कि स्वाद का सच्चा स्थान जीभ नहीं, बल्कि मन है ।

आर्थिक दृष्टि तो मेरे सामने थी ही । उस समय एक ऐसा दल भी था, जो चाय-काफी को हानिकारक मानता और कोको का समर्थन करता । केवल शरीर-व्यापार के लिए किसी चीज का खाना-पीना आवश्यक है, यह मैं समझ चुका था । इसीलिए चाय-काफी मुख्यतः छोड़ दी और कोको को उनका स्थान दिया ।

भोजनालय में दो विभाग थे । एक में जितनी चीज खाते उतने ही दाम देने पड़ते । इसमें एक बार में एक-दो शिलिंग भी खर्च हो जाते । इसमें अच्छी स्थिति के लोग आते । दूसरे विभाग में छः पेनी में तीन चीजें और रोटी का एक अंश

मिलता। जब मैंने खूब किफायतशारी अख्तियार की तब ज्यादा-तर मैं छः पेनी वाले विभाग में भोजन करता।

इन प्रयोगों में उप-प्रयोग तो बहुतेरे हो गये। कभी स्टार्च वाली चीजें छोड़ देता। कभी सिर्फ रोटी और फल पर ही रहता। कभी पनीर, दूध और अंडे ही लेता।

यह आखिरी प्रयोग लिखने लायक है। यह पन्द्रह दिन भी न चला। जो बिना स्टार्च की चीजें खाने का समर्थन करते थे, उन्होंने अंडों की तारीफ के खूब पुल बाँधे थे और यह साबित किया था कि अंडे मांस नहीं है। हाँ, इतनी बात तो थी कि जीवित अंडे खाने से किसी प्राणी को कष्ट नहीं होता था। सो इस दलील के चक्कर में आकर अपनी प्रतिज्ञा के रहते हुये मैंने अंडे खाये। पर मेरी यह मूर्च्छा थोड़ी ही देर ठहरी। प्रतिज्ञा का नया अर्थ करने का मुझे अधिकार न था। अर्थ तो वही ठीक है, जो प्रतिज्ञा दिलाने वाला करे। मैं जानता था कि जिस समय माँ ने मांस न खाने की प्रतिज्ञा दिलाई थी, उस समय उसे यह खयाल नहीं हो सकता था कि अण्डा मांस से अलग समझा जा सकेगा। इसलिए ज्योंही प्रतिज्ञा का यह रहस्य मेरे ध्यान में आया, मैंने अण्डे छोड़ दिये और यह प्रयोग बन्द कर दिया।

यह रहस्य सूक्ष्म और ध्यान में रखने योग्य है। विलायत मे मैंने मांस की तीन व्याख्यायें पढ़ी थीं। एक में मांस का

अर्थ था पशु-पक्षी का मांस। इसलिए इस व्याख्या के कायल लोग उसको तो न छूते; परन्तु मछली और अण्डे खाने में तो कोई बुराई ही न समझते थे। दूसरी व्याख्या के अनुसार जिन्हें आम तौर पर प्राणी व जीव कहते थे उनका मांस वर्जित था। इसके अनुसार मछली त्याज्य थी, परन्तु अण्डे ग्राह्य थे। तीसरी व्याख्या में आम तौर पर प्राणीमात्र और उनसे बनने वाली चीजें निषिद्ध मानी गई थीं। इस व्याख्या के अनुसार अण्डे और दूध छोड़ देना लाजिमी था। इसमें यदि पहली व्याख्या को मैं मानता तो मैं मछली भी खा सकता था। परन्तु मैंने अच्छी तरह समझ लिया था कि मेरे लिए तो माताजी की व्याख्या ही ठीक थी। इसलिए अण्डे छोड़ दिये, पर इससे कठिनाई में पड़ गया, क्योंकि बारीकी से जब मैंने खोज की तो पता लगा कि अन्नाहार वाले भोजनालयों में भी बहुत सी चीजें ऐसी बना करती थीं, जिसमें अण्डे पड़ा करते थे। फलतः यह भी परोसने वाले से पूछ-ताछ करना मेरे नसीब में बदा रहा, जब तक कि मैं खूब वाकिफ नहीं हो गया था। क्योंकि बहुतेरे पुडिंग और केक में अण्डे जरूर ही रहते हैं। इस कारण एक तरह से तो मैं जंजाल से छूट गया; क्योंकि फिर तो मैं बिलकुल सादी और मामूली चीजें ही ले सकता था। हाँ, दूसरी तरफ दिल को कुछ धक्का अलबत्ता लगा, क्योंकि ऐसी कितनी ही वस्तुयें छोड़नी पड़ीं, जिनका स्वाद जीभ को लग गया था। पर यह धक्का क्षणिक था। प्रतिज्ञा-पालन का स्वच्छ,

मिलता। जब मैंने खूब किफायतशारी अख्तियार की तब ज्यादा-तर मैं छः पेनी वाले विभाग में भोजन करता।

इन प्रयोगों में उप-प्रयोग तो बहुतेरे हो गये। कभी स्टार्च वाली चीजें छोड़ देता। कभी सिर्फ रोटी और फल पर ही रहता। कभी पनीर, दूध और अंडे ही लेता।

यह आखिरी प्रयोग लिखने लायक है। यह पन्द्रह दिन भी न चला। जो बिना स्टार्च की चीजें खाने का समर्थन करते थे, उन्होंने अंडों की तारीफ के खूब पुल बाँधे थे और यह साबित किया था कि अंडे मांस नहीं है। हाँ, इतनी बात तो थी कि जीवित अंडे खाने से किसी प्राणी को कष्ट नहीं होता था। सो इस दलील के चक्कर में आकर अपनी प्रतिज्ञा के रहते हुये मैंने अंडे खाये। पर मेरी यह मूर्च्छा थोड़ी ही देर ठहरी। प्रतिज्ञा का नया अर्थ करने का मुझे अधिकार न था। अर्थ तो वही ठीक है, जो प्रतिज्ञा दिलाने वाला करे। मैं जानता था कि जिस समय माँ ने मांस न खाने की प्रतिज्ञा दिलाई थी, उस समय उसे यह खयाल नहीं हो सकता था कि अण्डा मांस से अलग समझा जा सकेगा। इसलिए ज्योंही प्रतिज्ञा का यह रहस्य मेरे ध्यान में आया, मैंने अण्डे छोड़ दिये और यह प्रयोग बन्द कर दिया।

यह रहस्य सूक्ष्म और ध्यान में रखने योग्य है। विलायत में मैंने मांस की तीन व्याख्यायें पढ़ी थीं। एक में मांस क

अर्थ था पशु-पक्षी का मांस। इसलिए इस व्याख्या के कायल लोग उसको तो न छूते; परन्तु मछली और अण्डे खाने में तो कोई बुराई ही न समझते थे। दूसरी व्याख्या के अनुसार जिन्हें आम तौर पर प्राणी व जीव कहते थे उनका मांस वर्जित था। इसके अनुसार मछली त्याज्य थी, परन्तु अण्डे ग्राह्य थे। तीसरी व्याख्या में आम तौर पर प्राणीमात्र और उनसे बनने वाली चीजें निषिद्ध मानी गई थीं। इस व्याख्या के अनुसार अण्डे और दूध छोड़ देना लाजिमी था। इसमें यदि पहली व्याख्या को मैं मानता तो मैं मछली भी खा सकता था। परन्तु मैंने अच्छी तरह समझ लिया था कि मेरे लिए तो माताजी की व्याख्या ही ठीक थी। इसलिए अण्डे छोड़ दिये, पर इससे कठिनाई में पड़ गया, क्योंकि बारीकी से जब मैंने खोज की तो पता लगा कि अन्नाहार वाले भोजनालयों में भी बहुत सी चीजें ऐसी बना करती थीं, जिसमें अण्डे पड़ा करते थे। फलतः यह भी परोसने वाले से पूछ-ताछ करना मेरे नसीब में बदा रहा, जब तक कि मैं खूब वाकिफ नहीं हो गया था। क्योंकि बहुतेरे पुडिंग और केक में अण्डे जरूर ही रहते हैं। इस कारण एक तरह से तो मैं जंजाल से छूट गया; क्योंकि फिर तो मैं बिलकुल सादी और मामूली चीजें ही ले सकता था। हाँ, दूसरी तरफ दिल को कुछ धक्का अलबत्ता लगा, क्योंकि ऐसी कितनी ही वस्तुयें छोड़नी पड़ीं, जिनका स्वाद जीभ को लग गया था। पर यह धक्का क्षणिक था। प्रतिज्ञा-पालन का स्वच्छ,

सूक्ष्म और स्थायी स्वाद मुझे उस क्षणिक स्वाद से अधिक प्रिय मालूम हुआ।

परन्तु सच्ची परीक्षा तो अभी आगे आने वाली थी, उसका सम्बन्ध था दूसरे व्रत से। परन्तु—

'जाको राखे साइयाँ मार सके न कोय'।

इस प्रकरण को पूरा करने के पहिले प्रतिज्ञा के अर्थ के सम्बन्ध में कुछ कहना जरूरी है। मेरी प्रतिज्ञा माता से किया हुआ एक इकरार था। दुनिया में बहुतेरे झगड़े इकरारों के अर्थ की खींचा-तानी से पैदा होते हैं। आप चाहे कितनी ही स्पष्ट भाषा में इकरारनामा लिखिए, फिर भी अर्थ-शास्त्री उसे तोड़-मरोड़ कर अपने मतलब का अर्थ निकाल ही लेंगे। इसमें सभ्यासभ्य का भेद नहीं रहता। स्वार्थ सबको अन्धा बना डालता है। राजा से लेकर रंक तक इकरारों के अर्थ अपने मन के मुवाफिक लगा कर दुनिया को, अपने को और ईश्वर को धोखा देते हैं। इस प्रकार जिस शब्द अथवा जिस वाक्य का अर्थ लोग अपने मतलब का लगाते हैं उसे न्यायशास्त्र दुमानी मध्यम पद कहता है। ऐसी दशा में स्वर्ण-न्याय तो यह है कि प्रतिपक्षी ने हमारी बात का जो अर्थ समझा हो वही ठीक समझना चाहिए, हमारे मन में जो अर्थ रहा हो वह झूठा और अधूरा समझना चाहिए। और ऐसा दूसरा स्वर्ण-न्याय यह है कि जहाँ दो अर्थ निकलते हों वहाँ वह अर्थ ठीक मानना चाहिये, जिसे कमजोर पक्ष ठीक

समझता हो। इन दो स्वर्ण-मार्गों पर चलने के कारण ही बहुत-कुछ झगड़े होते हैं और अधर्म हुआ करता है और इस अन्याय की जड़ है असत्य। जो सत्य के ही रास्ते चलना चाहता है, उसे स्वर्णमार्ग सहज ही प्राप्त हो जाता है। शास्त्रों की पोथियाँ नहीं उलटनी पड़तीं। माता ने मांस शब्द का जो अर्थ माना था और जो मैं उस समय समझता था, वही मेरे लिए सच्चा अर्थ था। और जो अर्थ मैंने अपनी विद्वत्ता के मद में किया अथवा यह मान लिया कि अधिक अनुभव से सीखा, वह सच्चा न था।

अब तक मेरे प्रयोग आर्थिक और आरोग्य की दृष्टि से होते थे। विलायत में उन्हें धार्मिक स्वरूप प्राप्त नहीं हुआ था। धार्मिक दृष्टि से तो कठोर प्रयोग दक्षिण अफ्रिका में हुए, जिनका जिक्र आगे आवेगा। पर हाँ, यह जरूर कह सकते हैं कि, उनका बीजारोपण विलायत में हुआ।

मसल मशहूर है कि 'नया मुसलमान जोर से बांग देता है।' अन्नाहार विलायत में एक नया धर्म ही था, और मेरे लिए वह नया था ही। समझ-बूझकर अन्नाहार तो मैंने विलायत में ही स्वीकार किया था। इसलिए मेरी हालत 'नये मुसलमान' की सी थी। नवीन धर्म को ग्रहण करने वाले का उत्साह मुझ में आ गया था, अतएव जिस मुहल्ले में मैं रहता था वहाँ अन्नाहारी-मण्डल स्थापित करने का प्रस्ताव मैंने किया। मुहल्ले का नाम था 'बेज वाटर'। उसमें सर एडविन एर्नाल्ड रहते थे। उन्हें

उपाध्यक्ष बनाने का यत्न किया और वह हो भी गए। डाक्टर ओल्डफील्फ अध्यक्ष बनाये गये, और मन्त्री बना मैं। थोड़े समय तो यह संस्था कुछ चली; परन्तु कुछ महीनों के बाद उसका अंत आ गया। क्योंकि अपने दस्तूर के मुताबिक उस मुहल्ले को कुछ समय के बाद मैंने छोड़ दिया। परन्तु, इस छोटे और थोड़े समय के अनुभव से मुझे संस्थाओं की रचना और संचालन का कुछ अनुभव प्राप्त हुआ।

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर

[विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर अमर कलाकार और अद्वितीय साहित्य-स्रष्टा तो थे ही, वे उच्चकोटि के ग्राम सुधारक भी थे। सुरूल की श्रीनिकेतन नाम की संस्था उनकी ग्रामसुधार-योजना का मूर्तिमान स्वरूप है। इस संस्था के १९३९ के वार्षिकोत्सव के अवसर पर उन्होंने एक महत्वपूर्ण भाषण दिया था। उसका हिन्दी रूपान्तर यहाँ प्रस्तुत किया गया है। इसके कतिपय आत्मकथात्मक अंशों से स्पष्ट हो जाता है कि स्वयम् लक्ष्मी के लाड़िले लाल होने पर भी उनका हृदय ग्रामीणों की दरिद्रता और अज्ञानता से कितना विकल रहता था और उनकी दशा सुधारने के लिए वे सदैव कितने आतुर और क्रियाशील रहते थे।—सं०]

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर।

श्रीनिकेतन के आदर्श

श्रीनिकेतन के आदर्शों के सम्बन्ध में मैं पहले जो कुछ कह चुका हूँ, उससे अधिक मुझे और कुछ नहीं कहना है। जब मैंने इसकी नींव डाली थी, मेरा शरीर सशक्त और मेरी विचारधारा अबोध थी; किन्तु अब बुढ़ापे के कारण मेरी शक्ति क्षीण हो गई है, और आपको मुझसे अधिक सहयोग की आशा नहीं करनी चाहिए।

एक लम्बे अर्से पूर्व मैं पिछली बार यहाँ आया था। अब तो मैं आपको अपने सम्पर्क-सहयोग—समय-समय पर आप लोगों से मिलने-जुलने—के सिवा और कुछ नहीं दे सकता। पहले-पहल जब मैंने यह कोठी खरीदी थी, तो ऐसा करने में मेरा कोई खास उद्देश्य नहीं था। किन्तु शांतिनिकेतन में अपना काम करते हुए मेरे दिमाग में एक और विचारधारा प्रवाहित हो रही थी। जब मैं अपनी जमींदारी के शिलाइदह और पतिसार ग्रामों में रह रहा था, तो पहले-पहल मुझे ग्राम्य जीवन देखने का अवसर मिला। उन दिनों अपनी पैतृक जमींदारी का काम मैं ही देखा करता था। प्रजाजन मेरे सामने आकर अपना दुःखसुख, शिकवा-

शिकायत और जरूरी माँगें रखा करते थे। इन सबसे उन ग्रामों के जीवन की मेरी एक धारणा-सी बन गई थी। एक ओर मेरी आँखों के सामने ग्रामों की बाह्य रूप-रेखा थी—उसकी नदियाँ, मैदान, धान के खेत और वृक्षों की छाया में विश्राम करते हुए झोपड़े। दूसरी ओर मेरे सामने थी उनकी आन्तरिक कथा। मेरे सारे कामों में प्रजा के दुःख-कष्ट जैसे घुल-मिल-से गए थे।

मैं एक नगर-निवासी हूँ, मेरा जन्म नगर में ही हुआ है और मेरे पूर्वज कलकत्ते के प्रारम्भिक निवासियों में से हैं। जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में मेरा ग्रामों से कोई सम्पर्क नहीं रहा। अतः जब मैंने जमींदारी का कारबार सँभाला, तो मुझे झिझक हुई कि शायद उस काम में मेरा जी न लगे या मैं अपने कर्त्तव्यों का ठीक-ठीक पालन न कर सकूँ। मुझे हिसाब-किताब रखने और लगान वसूल करने का कोई अनुभव नहीं था। इस कारण जमींदारी का काम सँभालने से मैं और भी घबरा रहा था। मै तब इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकता था कि आँकड़ों और जोड़-बाकी के चक्कर में पड़कर मैं अपना मानसिक स्वास्थ्य कायम रख सकता हूँ। पर जब मैंने यह कार्य आरम्भ किया, तो मेरा जी इसमें खूब लगने लगा। यह शुरू से ही मेरा स्वभाव रहा है कि जब मैं कोई जिम्मेदारी लेता हूँ, तो उसमें डूब-सा जाता हूँ, सदा उसे अपनी शक्ति भर भली भाँति निभाता हूँ और कभी

जी नहीं चुराता। एक बार मुझे एक अध्यापक का काम भी करना पड़ा था, जिसे मैंने खूब जी लगा कर किया और उससे मुझे सन्तोष एवं प्रसन्नता भी प्राप्त हुई। इसी प्रकार जब मैंने जमींदारी का काम हाथ में लिया, तो उसकी सारी पेचीदगियों और रहस्यों को समझने की कोशिश की। कई मामलों में तो मैंने अपनी समझ से ऐसे-ऐसे हल सोच निकाले कि आस-पास की जमींदारियों वाले इन उपायों को मुझसे जानने के लिए मेरे पास अपने कारिन्दे भेजा करते थे।

मैं पुरानी परम्परा का अन्धभक्त कभी नहीं रहा। इससे जमींदारी के पुराने कारिन्दों को—जो बड़े अटपटे ढङ्ग से सारा हिसाब रखा करते थे—कुछ असुविधा महसूस होने लगी। उनका खयाल यह था कि मैं सिर्फ उतना और वही समझूँ, जिसे कि वे मुझे समझायें। उन्हें डर था कि अगर मैं उनके काम करने का ढग कुछ बदल दूंगा, तो काम का सारा सिलसिला बिगड़ जायगा। वे मुझसे अक्सर कहा करते थे कि मुकदमों की सुनवाई के दौरान में नये दस्तावेजों से काम नहीं चलेगा, अदालत उन पर सन्देह करेगी। पर मेरा स्वभाव कठिनाइयों के सामने हार मानने का नहीं है, बल्कि विघ्न बाधाओं के सम्मुख तो वह विद्रोही हो उठता है। मैंने सारी व्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्त्तन कर दिया, जिसका परिणाम अच्छा ही हुआ।

जमींदारी के लोग अक्सर मुझसे मिलने आया करते थे और

मेरे द्वार उनके लिए प्रातः, मध्याह्न और रात को सदा खुले रहते थे। उनके मुझ तक पहुँचने के मार्ग में किसी भी तरह की रुकावट नहीं थी। कभी-कभी तो उनसे बातचीत करने में ही सारा दिन बीत जाता था और मुझे खाना खाने तक का खयाल नहीं रहता था। इस काम से मुझे बड़ा आनन्द और उत्साह प्राप्त होता था। कारण, जिस आदमी को बचपन से अपने शहर के मकान में ही रहना पड़ा हो, उसके लिये ग्राम्य जीवन का यह अनुभव कम महत्त्व का नहीं था। इस दिशा में मेरे मार्ग मे आने वाली कठिनाइयों से मुझे सन्तोष और नया उत्साह प्राप्त होता था। सब से पहले कोई सड़क बनाने वाले को जितना प्रसन्नता होती है, उतनी ही मुझे इस नए काम में होती थी।

अपने ग्राम्य-प्रवास के दौरान में मेरा यह प्रयत्न रहा है कि ग्राम्य जीवन की छोटी-छोटी बातों को भी मैं जानूँ। जमींदारी के काम के सिलसिले में मुझे शिलाइदह से पतिसार तक गाँव-गाँव घूमना पड़ता था—कभी छोटी-बड़ी नदियों से और कभी खुश्की रास्तों से। इन यात्राओं से मुझे ग्राम्य जीवन के सभी पहलू देखने को मिला करते थे। उनके दैनिक जीवन और उत्सव अनुष्ठानों को देखने और समझने की मेरी उत्सुकता भी बढ़ती जाती थी। शहर में पाला-पोसा गया और अचानक गाँवों की सौन्दर्यमयी गोद में आ पड़ा था और अपनी ग्राम्य जीवन-सम्बन्धी उत्सुकता को नाना रूपों से प्रसन्नतापूर्वक शान्त कर रहा

धीरे-धीरे ग्रामीणों के दुःख-दारिद्र्य का मुझे भास हुआ और किसी प्रकार उनकी सहायता करने के लिये मैं उतावला हो चला। मुझे केवल अपने हानिलाभ की चिन्ता करने तथा और जमींदारों की तरह धन बटोरने में ही अपना सारा समय बिताने के जीवन से शर्म आने लगी। इसके बाद से निरन्तर मेरा प्रयत्न यही रहा है कि ग्रामीणों में यह जागरूकता पैदा की जाय कि वे अपने जीवन की जिम्मेदारी स्वयं निभा सकें। थोड़ी बहुत बाहरी मदद हम लोग उनकी जरूर कर सकते हैं, किन्तु उससे उन्हें अन्ततः हानि ही होगी। मेरा ध्यान विशेषतः इसी प्रश्न पर लगा रहा कि उनमें जीवन कैसे पैदा किया जाय? पर उनके सहायता के मार्ग में सबसे बड़ी कठिनाई यह उपस्थित हुई कि वे स्वयं अपने-आपको घृणा करते थे। वे कहा करते—'बाबू हम तो कुत्ते हैं। बिना हंटरबाजी या पिटाई के हम लोग कैसे सीधी तरह रह सकते हैं?'

एक बार जब मैं एक गाँव में ठहरा था, तो पास के किसी गाँव में आग लग गई। गाँव वाले ऐसा घबरा गए कि क्या करें, क्या नहीं, कुछ उनकी समझ में नहीं आया। भाग्य से पड़ोस के एक दूसरे गाँव के कुछ मुसलमान इस अवसर पर आ पहुँचे, और उन्होंने किसी तरह आग बुझाई। चूँकि आस-पास कहीं आग बुझाने के लिए पानी नहीं मिला, उन्होंने मकानों की छत तोड़कर किसी तरह आग को फैलने से रोका। इस

समय वे लोग नासमझी के कारण इतने अन्धे हो गये थे कि हमारे आदमियों ने धक्के दे-देकर उनसे मकान की छतें तुड़वाईं। इससे मैंने जाना कि गाँव वालों की कभी-कभी बल-प्रयोग द्वारा और धक्के देकर भी सहायता करनी पड़ती है। जब आग बुझा दी गई, तो उनमें से कई लोग मेरे पास आए और बोले कि भाग्य से बाबू लोगों द्वारा छतें तुड़वा देने से ही हम लोग बच गए। बड़ी प्रसन्नतापूर्वक उन्होंने स्वीकार किया कि बाबू लोगों के धक्के उनकी अच्छाई के लिये ही थे—यद्यपि मैं इसके लिये बहुत लज्जित था।

मेरे मस्तिष्क पर शहरी जीवन की छाप थी। मैंने सोचा कि इन लोगों के लिये गाँव के बीच एक ऐसा घर बनवा दिया जाय, जहाँ दिन-भर का अपना-अपना काम समाप्त करने के बाद ये लोग इकट्ठे हुआ करें और इनको समाचार-पत्र, रामायण, महाभारत आदि पढ़ कर सुनाये जाया करें। यह एक तरह से उनका 'क्लब' होता। उनकी नीरस संध्याओं का—जिनमें कभी-कभी कीर्त्तन के किसी एक पद की असंख्य पुनरावृत्तियों से थोड़ा-सा रस-संचार हो जाता था—खयाल कर मुझे कई बार बड़ा दुःख होता था। वहाँ घर बनवा दिया गया; पर उसका कोई उपयोग नहीं हुआ। वहाँ एक अध्यापक भी मैंने रख दिया; पर कोई शिक्षार्थी ही नहीं आया। इस पर पास के गाँव के मुसलमानों ने आकर कहा चूँकि इस गाँव वाले स्कूल से कोई

लाभ नहीं उठा रहे, आप अध्यापक को हमें दे दीजिये। हम उसे रहने की जगह, भोजन और वेतन सब कुछ देंगे। इस प्रकार मुसलमानों के गाँव में जो स्कूल खुला, वह आज भी चल रहा है; पर मैं जिस गाँव के लोगों के लिये शिक्षा का प्रबन्ध करना चाहता था, उसमें मुझे सफलता नहीं मिली। मैंने देखा कि इन लोगों में आत्म-विश्वास एकदम उठ-सा गया है।

सुदीर्घ प्राचीन काल से हमारे देश के लोग परमुखापेक्षी हैं। सारे गाँव की व्यवस्था और रक्षा की जिम्मेदारी एक धनी व्यक्ति (जमींदार) पर रही है, और वही सारे गाँव के स्वास्थ्य तथा शिक्षा के लिये जिम्मेदार रहा है। एक समय था, जब मैं भी इस पद्धति का बड़ा प्रशंसक था। कारण इस प्रकार धनी लोगों पर एक तरह का कर सा लगा हुआ था। यह कर उन्होंने दिया, और उन्होंने ही फिर तालाब खुदवाए तथा मन्दिर आदि बनवाये। हमारे देश के आदर्श के अनुसार एक आदमी सारी सम्पत्ति अपने ही लिए खर्च नहीं कर सकता—जबकि यूरोप में ऐसी बात नहीं है। जमींदार ग्राम्य जनता के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करना बड़ी इज्जत की बात समझते थे। तब सरकारी खिताब नहीं बख्शे जाते थे और न अखबार वाले ही उनके गीत गाते थे। प्रजा उनका आदर करती थी और उन्हें 'बाबू' तथा 'माशाई' (महाशय) कहती थी। इससे अधिक सम्मान-प्रद खिताब उन्हें कोई बादशाह या नवाब क्या दे सकते थे? इस

प्रकार गाँव के हित की सारी जिम्मेदारी धनी जमींदार पर होती थी। यद्यपि इस पद्धति का मैं प्रशंसक रहा हूँ; पर यह बात भी कम सत्य नहीं है कि इससे हमारी आत्म-निर्भरता बहुत दुर्बल हो गई है।

हमारी जमींदारी नदी से काफी दूर थी और वहाँ प्रायः पानी की किल्लत रहती थी। मैं लोगों से कहा करता था—'तुम लोग कुएँ खोदो, पक्की चिनाई आदि का काम मैं करवा दूँगा।' वे कहते—'बाबू, यह तो कोई अच्छी बात नहीं है- जैसे मछली को उसी के तेल में तलना! हम लोग कुएँ खोदते हैं और आप ऐसी शक्ति प्राप्त कीजिए कि इन्द्र भगवान के यहाँ जाकर हमारे लिए पानी भिजवाते रहें।' मैं कहता—'तब मैं तुम्हें कुछ भी नहीं दे सकूँगा।' उन लोगों की धारणा थी कि मर्त्यलोक के ऐसे कामों के जमा-खर्च का हिसाब ब्रह्मलोक में रखा जाता है। अतः अगर यह आदमी किसी तरह ब्रह्मलोक या विष्णुलोक में जा सके, तो इसकी शक्ति का ठिकाना न रहेगा और हमें आसानी से पानी मिलने लगेगा।

एक दूसरा उदाहरण देखिए। हमारी कचहरी से कुढ़िया तक एक ऊँची सड़क बनी थी। उसके पास के गाँवों के लोगों से मैंने कहा 'इस सड़क को सही हालत में रखने की जिम्मेदारी तुम लोगों पर है।' ऐसा उनसे इसलिए कहना पड़ा कि जब कभी वे सड़क पार करते, तो बैलगाड़ी के पहियों से वह ऐसी

टूट-फूट जाती कि बरसात के मौसम में उस पर से निकलना कठिन हो जाता। मैं उनसे कहता—'इन खड्डों के लिए तुम्हीं जिम्मेदार हो। अगर तुम सब मिल कर यत्न करो, तो इन्हें जरा-सी देर में ठीक कर सकते हो। वे कहते—'यह खूब रही! सड़क की मरम्मत हम करें और उस पर आराम से कुपिटया आएँ-जाएँ ये बाबू लोग?' वे यह बर्दाश्त ही नहीं कर सकते थे कि उनके परिश्रम से कोई दूसरा लाभ उठाए। इसके बजाय वे स्वयं असुविधा उठा लेना ज्यादा पसंद करते थे। ऐसे लोगों की सहायता करना कठिन है यह बतलाने की जरूरत नहीं मैंने अपनी आँखों से देखा है कि किस प्रकार समर्थ व्यक्ति उन पर जुल्म करते हैं और गरीब ग्रामीण चुपचाप सारे अपमानों को सह लेते हैं। एक ओर समर्थों के इन जुल्मों और दूसरी ओर उनके संरक्षक ने गाँव वालों की आत्माभिमान और आत्म-निर्भरता की भावना को ही नष्ट कर दिया है। उनका विश्वास है कि उनका कठोर भाग्य उनके पिछले जन्म के कर्मों का फल है, और यदि अगले जन्म में वे किसी अच्छे कुल में पैदा हो सकें तो उनका भाग्य बड़ा उज्ज्वल होगा; इस जन्म के दुःख दारिद्र्य के भोग से उन्हें कोई नहीं बचा सकता। और इसी जहनियत ने उन्हें एकदम असहाय बना दिया है।

एक समय था, जब जमींदार ग्रामीणों के लिए पानी और शिक्षादि की व्यवस्था करना अपनी शान और कर्त्तव्य समझते

थे। उन्हीं की उदारता के कारण गाँव अच्छी हालत में रहता था। पर जब से उन्होंने गाँव छोड़कर शहरों में रहना शुरू कर दिया, गाँवों में पानी की किल्लत हो गई, हैजे और मलेरिया का प्रकोप बढ़ गया। इस प्रकार न मालूम कितने गाँवों में सुख की स्रोतस्विनी सूख गई। आजकल के गाँवों का जीवन तो इतना नीरस हो चला है, जैसा शायद ही अन्यत्र कहीं हो। जिनके जीवन में सुख और स्वास्थ्य का इतना अभाव हो, वे आकस्मिक संकटों और रोगों का शिकार क्यों न बनें? गाँव वालों को बाहरी जुल्म कम नहीं सहने पड़ते हैं—जमींदारों के कारिंदे, अदालत के कर्मचारी और पुलिस वाले सभी तो उन पर जुल्म ढाते हैं।

पर इन सब कठिनाइयों को दूर करने के लिए बहुत सोचने-विचारने पर भी मैं कोई इलाज नहीं निकाल सका। पीढ़ियों से जो ऐसी कमजोरियों के अभ्यस्त हों और आत्मनिर्भरता जिनमें नाममात्र को भी न हो, उनकी कुछ भी सहायता कर सकना बड़ा कठिन है। फिर भी मैंने अपने प्रयत्नों का श्रीगणेश किया। उन दिनों मेरे एकमात्र सहयोगी कालीमोहन* थे। काम करते-करते उन्हें दिन में दो बार ज्वर आ जाता था, और मैं अपना दवाइयों का बक्स खोल कर खुद ही उन्हें दवा दिया

---

*स्व० कालीमोहन घोष विश्वभारती की ग्राम-सुधार शाखा के एक अथक और आत्मत्यागी कार्यकर्त्ता थे। —सं०

करता था। कभी खयाल आता कि मैं उन्हें बिल्कुल ठीक शायद कभी न कर सकूँगा।

गाँवों के लोगों को मैंने कभी भी अनादर की दृष्टि से नहीं देखा है, यद्यपि अपने आप को भद्र लोग कहने और परीक्षाएँ पास करने वाले शिक्षित लोग अक्सर उनसे अशिष्टता का व्यवहार करते हैं। शराफत से पेश आना तो जैसे वे जानते ही नहीं। हमारे शास्त्र कहते हैं कि तुम जब भी कुछ दो, आदर के साथ दो।

जैसे-तैसे मेरा ग्राम-सुधार का काम शुरू हुआ। अपने घर में बैठकर मैं किसानों को हल-बैल लेकर टुकड़ों में बँटे और इधर-उधर फैले हुए अपने खेतों को जोतने जाते देखा करता था। हर आदमी केवल अपनी ही जमीन जोता करता था। मैं सोचता कि किस प्रकार अनावश्यक रूप से वे अपनी शक्ति का अपव्यय कर रहे हैं। मैं उन्हें बुलाकर कहता—'तुम लोग सब मिलकर सारी जमीन क्यों नहीं जोतते? सब मिलकर पैसे इकट्ठे करो और एक 'ट्रैक्टर' खरीद लो, ताकि जमीन आसानी से जोती जा सके। अगर तुम सब मिलकर साथ काम करो, तो जमीन सम्बन्धी अनावश्यक कठिनाइयाँ सहज ही दूर हो सकती हैं और जो कुछ पैदावार हो, उसे तुम आपस में बाँट ले सकते हो। तुम सब अपनी सारी पैदावार गाँव में कहीं एक जगह इकट्ठा कर लो, ताकि महाजन वहीं से ठीक दर पर उसे खरीद लिया करें।' मेरी बात को उन्होंने बड़े ध्यान से सुना और फिर

बोले—'विचार तो बहुत अच्छा है; पर इसे कार्यान्वित कौन करेगा ?' यदि इस विषय की आवश्यक जानकारी मुझे भली भाँति होती, तो शायद यह काम मैं ही अपने हाथ में ले लेता, क्योंकि वे मुझे भली भाँति जानते थे और मुझ पर उनका विश्वास भी था। किन्तु उनकी सहायता करने की इच्छा-मात्र से ही तो हम उनकी कोई सहायता नहीं कर सकते। पर अज्ञान की सेवा से बढ़कर ग्रामवासियों के लिए अधिक खतरनाक चीज और कोई नहीं। आजकल शहरों के बहुत से नौजवान ग्राम-सुधार का काम करने गाँवों में जाते हैं; पर गाँववाले उन्हें देखकर प्रायः हँसते हैं। जब वे ग्रामीणों की भाषा तक नहीं जानते और न उनकी विचारधारा से ही परिचित होते हैं, तो उनकी क्या मदद कर सकते हैं ?

तभी मैंने ग्राम-सुधार का कुछ काम करने का निश्चय किया। इस सम्बन्ध में मेरे दिमाग में कई तरह के संकल्प-विकल्प हो रहे थे। मैंने अपने लड़के और सन्तोष* को खेती तथा पशु-पालन की शिक्षा प्राप्त करने के लिए विदेश भेजा। इसी समय मैंने यह कोठी खरीदी। मैंने सोचा कि सियालदह में मैंने जो कार्य आरंभ किया था उसे यहाँ रह कर जारी

*स्व० सन्तोषचन्द्र मजूमदार विश्वभारती के प्रमुख सेवकों में से थे। कवि का उन पर विशेष स्नेह था। शिक्षा सत्र, डेरी, अतिथशाला और स्कूल के अध्यक्ष-पद पर रह कर उन्होंने बड़े परिश्रम, अध्यवसाय और योग्यतापूर्वक कार्य किया है।
—सं०

रखा जा सकेगा। इस समय कोठी की हालत बड़ी बुरी थी और सभी कोई कहता था कि इसमें भूत रहता है। मैंने काफी खर्च करके इसकी मरम्मत करवाई, पर इसके बाद कुछ दिन तक कुछ भी न कर पाया और वह खाली ही पड़ी रही। ऐण्ड्रूज ने सलाह दी कि मैं इसे बेच दूँ: पर मैंने कहा कि मैंने इसे किसी मतलब से ही खरीदा है—शायद इसी जगह मेरे जीवन के दो उद्देश्यों में से एक की सिद्धि हो। तब मैं यह नहीं जानता था कि ऐसा कब और कैसे होगा? यदि बंजर जमीन में भी कोई बीज डाल दे तो किसी शुभ मुहूर्त में वह भी अचानक अंकुरित हो सकता है। पर उस समय बीज के अंकुरित होने के कोई आसार नहीं थे। हाँ, बाद में धीरे-धीरे वह अंकुरित होने लगा।

मेरे इन सब प्रयत्नों में एल्महर्स्ट ने मेरी बहुत सहायता की। उन्हीं के प्रयत्न से यहाँ का यह नवीन कार्य-क्षेत्र तैयार हो सका। इसे शान्ति निकेतन से संबंधित करना ठीक न था। एल्महर्स्ट के हाथों में स्वतंत्र रूप से इसके कार्य ने खासी तरक्की की।

हमारे ग्राम-सुधार-कार्य के दो रूप हैं? हमें यहाँ से इधर-उधर जाकर काम भी करना है और साथ ही अपना अध्ययन भी जारी रखना है. क्योंकि अगर हम ग्रामीणों की सेवा करना चाहते हैं, तो हमें उसे सीखना भी चाहिए।

अपना भाषण समाप्त करने से पहले मुझे एक शब्द और कहना है। हमें ग्रामीणों की उस आन्तरिक शक्ति को जगाने का प्रयत्न भी करना चाहिये, जो उनमें है और जिसका हमारे साथ रहना परमावश्यक है—भले ही हमें वह दिखाई न पड़े। जब मैंने 'स्वदेशी समाज' लिखा तो यही विचार मेरे मस्तिष्क में था। मुझे कहना केवल यही था कि हमें देश के रूप में नहीं सोचना चाहिए। मैं सारे भारत की जिम्मेदारी अपने ऊपर नहीं ले सकता। मैं तो केवल एक या दो छोटे गाँवों पर विजय प्राप्त करना चाहता हूँ। ग्रामीणों के सहयोग से काम करने की शक्ति प्राप्त करने के लिए हमें उनके मानस में पैठना होगा। यह आसान नहीं, बहुत कठिन है और इसके लिए कठोर आत्म-संयम की आवश्यकता है। यदि मैं एक या दो गाँव को भी अज्ञान और दुर्बलता के चंगुल से मुक्त कर सकूँ, तो छोटे पैमाने पर समूचे भारत के लिए यह एक आदर्श होगा। यही बात तब मेरे दिमाग में आई थी और यही आज भी है।

हमारा उद्देश्य इन थोड़े-से गाँवों को पूर्ण स्वाधीनता देना होना चाहिये। हमें फिर पुराने दिनों की तरह ग्रामीणों में शिक्षा, संगीत और संकीर्त्तन प्रचार द्वारा सुख के समीरण को बहाना होगा। इस आदर्श की पूर्ति कुछ गाँवों में ही कीजिए, तब मैं कहूँगा कि यही गाँव मेरा भारत है। और जब ऐसा होगा, तभी भारत वास्तव में हमारा होगा।

महामना पं० मदनमोहन मालवीय

['हिन्दू-विश्वविद्यालय काशी के संस्थापक' 'हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान' के उन्नायक महामना मालवीयजी का ऋषि-तुल्य जीवन धार्मिकता और कर्त्तव्यपरायणता का अनुपम उदाहरण है। हिन्दी के लब्ध-प्रतिष्ठ लेखक पं० रामनरेश त्रिपाठी ने 'तीस दिन मालवीयजी के साथ' नामक पुस्तक में अत्यन्त रोचक शैली में महामना के जीवन का परिचय दिया है। उसी से कुछ आत्मकथात्मक अंश चयन करके नीचे दिये गये हैं।—सं०]
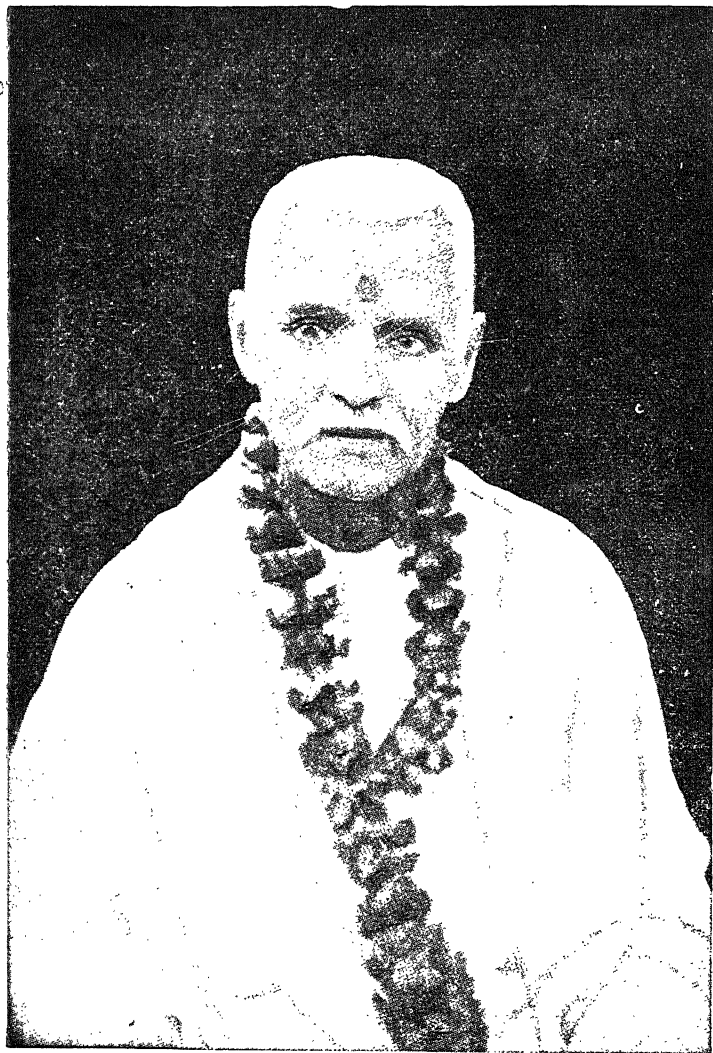
महामना पं० मदनमोहन मालवीय
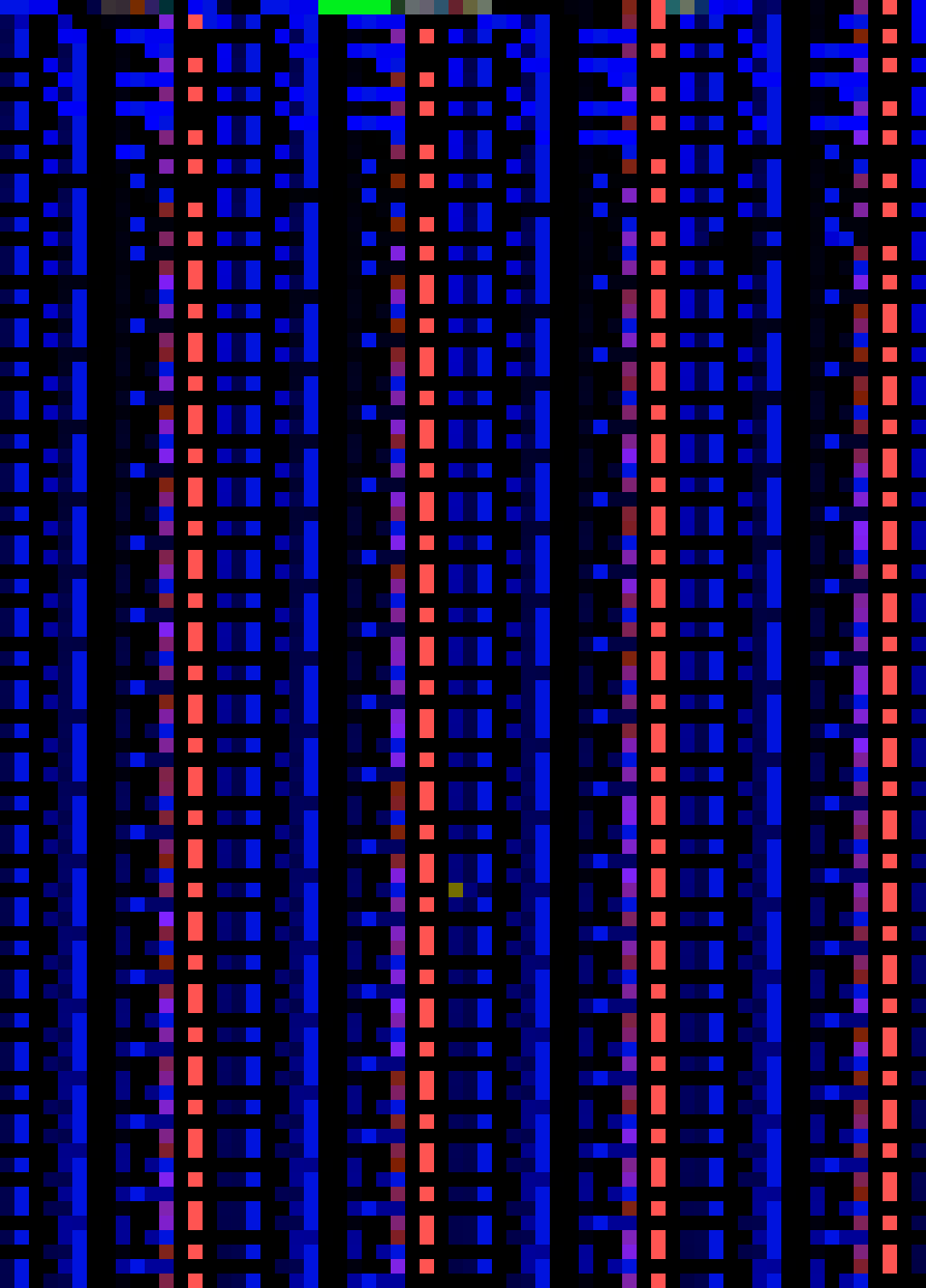
मधुर स्मृति

मेरा जन्म पौष कृष्ण ८ बुधवार, संवत् १९१८, ता० २५ दिसम्बर, १८६१ को हुआ।

मैं लड़कपन में बड़ा प्रसन्न और चैतन्य रहता था। मेरे मुहल्ले में एक घुरहू साहु रहते थे, वे मुझे मस्ता कहा करते थे।

जब मैं ५ वर्ष का हुआ, तब मेरा विद्यारंभ कराया गया। उस समय प्रयाग में, अहियापुर मुहल्ले में कोई पाठशाला नहीं थी। लाला मनोहरदास रईस की कोठी के चबूतरे पर, जो तीन सवा-तीन फीट चौड़ा और १०-१५ फीट लम्बा था, उसी पर टाट बिछाकर एक गुरुजी लड़कों को महाजनी पढ़ाया करते थे। गुरुजी कहीं पश्चिम के रहने वाले थे। वे पहाड़ा पढ़ाते थे। मैंने पहले-पहल पढ़ना वहीं से आरम्भ किया। वहाँ से हरदेवजी की पाठशाला में चला गया। उसका नाम था—धर्म ज्ञानोपदेश पाठशाला।

पंडित हरदेवजी मथुरा की तरफ के थे। भागवत के अच्छे विद्वान् और योग-साधक थे। वे गौ पालते थे और विद्यार्थियों को दूध भी पिलाया करते थे।

धर्म ज्ञानोपदेश पाठशाला सवेरे ६ बजे से शुरू होती थी। ६।। बजे घंटा बजता, तब लड़के सभा-भवन में आ जाते थे। जब सब जमा हो जाते, तब कोई एक विद्वान् या ऊपर की श्रेणी का कोई विद्यार्थी पंडितजी के आदेश के अनुसार कोई एक श्लोक पढ़ता था। उसके एक-एक टुकड़े को सब विद्यार्थी दुहराते जाते थे। इस प्रकार सब विद्यार्थियों को मनुस्मृति, गीता और नीति के कितने ही श्लोक कंठ हो गये थे। मुझे कुछ श्लोक और स्तोत्र पिताजी ने याद करा दिये थे। आज तक मेरे मूलधन की पूँजी वही है।

पंडित हरदेवजी संगीत के भी प्रेमी थे। पहले उन्होंने एक अक्षर-पाठशाला भी खोली थी। उनका अभिप्राय था कि कोई बालक निरक्षर न रहे। उसी पाठशाला का नाम पंडितजी ने पीछे धर्म ज्ञानोपदेश पाठशाला रक्खा। धार्मिक शिक्षा की तरफ गुरुजी का ज्यादा ध्यान था। साथ ही साथ शारीरिक बल बढ़ाने की शिक्षा भी वे देते थे। पाठशाला में वे कुश्ती भी लड़वाते थे।

हरदेवजी की पाठशाला में मैं संस्कृत, लघु कौमुदी आदि पढ़ता था। यह पाठशाला अब मेरे मकान के पास दक्षिण की तरफ है और 'हरदेवजी की पाठशाला' के नाम से प्रसिद्ध है। यह पाठशाला अब तक कायम है और इसमें संस्कृत कालेज की आचार्य परीक्षा के लिये विद्यार्थी तैयार किये जाते हैं, प्रान्तीय संस्कृत पाठशालाओं में उसका स्थान ऊँचा है।

आठ वर्ष की अवस्था में मेरा यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। पिताजी ही ने गायत्री मंत्र की दीक्षा दी थी।

शायद सन् १८६८ में गवर्नमेंट हाई स्कूल खुला। मेरी इच्छा अंग्रेजी पढ़ने की हुई। माताजी से आज्ञा लेकर मैं स्कूल में भरती हो गया। उस समय फीस बहुत कम लगती थी। मेरे भाई को तीन आने देने पड़ते थे और मुझे डेढ़ आने।

घंटाघर के पास जिस मकान में आजकल चुंगीघर है, उसी में हाई स्कूल था। उसी में ग्यारह क्लास थे। दो-दो सेक्शन थे। ग्यारहवें क्लास के दूसरे सेक्शन में मैं भरती हुआ था। बड़े भाई जयकृष्ण (पं० कृष्णकान्त मालवीय के पिता) को हेड-मास्टर साहब बकते थे कि इतने छोटे बच्चे को स्कूल क्यों लाते हो? पंडित जयकृष्ण मुझसे ६ वर्ष बड़े थे। मैं उन्हीं के साथ स्कूल जाया करता था।

अंग्रेजी शुरू करने के बाद संस्कृत में मैं कम ध्यान देने लगा, तब मेरे चाचा ने मेरी माँ को कहा—इसको अंग्रेजी पढ़ने में क्यों लगा दिया है? संस्कृत पढ़ता तो बड़ा पंडित होता। मुझ पर इसका प्रभाव पड़ा और मैं स्कूल और कालेज तक संस्कृत पढ़ता चला गया।

स्कूल में मैं पानी नहीं पीता था। प्यास लगती तो घर जाकर पी आता था। एक दिन मौलवी साहब ने छुट्टी देर से दी। प्यास बहुत लगी थी। घर गया तो रोता हुआ गया। माँ से शिकायत

की कि मौलवी साहब ने छुट्टी नहीं दी और प्यास के मारे मुझे बड़ी तकलीफ़ हुई, मैं अब स्कूल नहीं जाऊँगा। उसी वक्त मेरे ताऊ पंडित लीलाधर, जो मेरी बातें सुन रहे थे, वहाँ आ गये। उन्होंने मेरी पीठ पर एक थप्पड़ दिया और घुड़क कर कहा — जाओ स्कूल! नहीं जायेंगे। क्यों नहीं जाओगे?

मैं बिना पानी पिये ही, रोता हुआ, उलटे पाँव लौट गया। तब से पानी की व्यवस्था स्कूल ही में की गई। एक लोटा रक्खा गया। नन्हकू कहार लोटे को माँज कर अलग रखता था। मुझे प्यास लगती तो उसी से पानी पिया करता था।

जब मेरी अवस्था १५ वर्ष की हुई, तब से मैं घर में रखी हुई पोथियों के बेठन खोलने और बाँधने लगा। बीच-बीच से पोथियाँ पढ़ता भी रहता था। कुछ पोथियाँ खराब भी हुई होंगी, पर उनमें से मैंने बहुत से श्लोक कंठ कर लिये थे। इन पोथियों में 'इतिहास समुच्चय' नाम की एक पोथी थी, जिसमें महाभारत के चुने हुए ३२ इतिहास हैं। मेरे धर्म-सम्बन्धी विचारों और ज्ञान के बढ़ाने में यह पुस्तक बड़ी सहायक हुई।

स्कूल में भरती होने के बाद भी पाठशाला में जाना नहीं छूटा था। पाठशाला में एक पंडित ठाकुरप्रसाद दुबे थे। वे भागवत के बड़े विद्वान थे। वे विद्यार्थियों को संस्कृत का श्लोक सिखाया करते थे। वे ऐसा शुद्ध उच्चारण करते थे कि उनके उच्चारण को सुन कर हम लोग शायद ही कभी अशुद्ध लिखते हों।

१६ वर्ष की अवस्था में मैंने एंट्रेंस पास किया।

मेरे चाचा पंडित गदाधर मालवीय का ४२ वर्ष की आयु में देहान्त हो गया। वे संस्कृत के बड़े भारी विद्वान् थे। उनके शोक में मैंने एक निर्वाणांजलि लिखी थी। उसका एक दोहा याद है:—

हाय गदाधर तत्त्ववर मालवीय-कुल-केतु।
इतने थोड़े समय में, प्रान तज्यो केहि हेतु॥

संस्कृत की जो शिक्षा मुझे प्राप्त हुई है, वह मेरे चचेरे भाई पंडित जयगोविन्द के अनुग्रह से हुई है। एंट्रेंस पास कर लेने पर मैंने उनसे संपूर्ण 'काशिका' पढ़ी। परन्तु फिर उसे दोहराया नहीं। अपने चाचा, पंडित गदाधरजी से मैंने भागवत पढ़ी या नाटक, ठीक याद नहीं। पंडित गदाधरजी संस्कृत के भारी पट्-शास्त्री विद्वान् थे। उन्होंने पहले पहल 'वेणी संहार' का भाषा में अनुवाद किया था। बाद में प्रबोध-चंद्रोदय, शुक्र-नीति, मृच्छ-कटिक और प्रचंड कौशिक का भी अनुवाद उन्होंने किया। वे बहुत अच्छी हिन्दी लिखते थे।

मेरा विवाह मिर्जापुर के पंडित नंदरामजी की कन्या से १६ वर्ष की अवस्था में हुआ था। मेरे चाचा पंडित गदाधर प्रसादजी मिर्जापुर के गवर्नमेंट हाई स्कूल के हेड पंडित थे। मैं प्रायः छुट्टियों में उनके पास जाया करता। एंट्रेंस पास होने के बाद मैं एक बार मिर्जापुर गया था। गया तो था पत्नी के मोह से, पर एक धर्म-सभा का अधिवेशन हो रहा था उसमें चला

गया। एक महंत सभापति थे। कई वक्ताओं के बोल चुकने के बाद गदाधर चाचा से पूछ कर मैंने भी धर्म-विषय पर भाषण किया। उसकी बड़ी प्रशंसा हुई। लोग पीठ ठोंकने लगे। तब से मेरा उत्साह बहुत बढ़ गया।

धार्मिक भावों की ओर मेरा झुकाव लड़कपन ही से था। स्कूल जाने के पहले मैं रोज हनुमानजी का दर्शन करने जाता था और यह श्लोक पढ़ता था—

मनोजवं मारुततुल्य वेगं जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम्।
वातात्मजं वानर-यूथ-मुख्यं श्रीरामदूतं शिरसा नमामि॥

लोकनाथ महादेव के पास मुरलीधर चिमन लाल गोटे वाले के चबूतरे पर पिताजी कथा बाँचने जाते थे। मुट्ठीगंज के मन्दिर मे भी वे कथा कहने जाया करते थे। मैं दोनों कथायें सुनने के लिए नित्य जाता था और उनकी चौकी के पास बैठ जाता था और बड़े ध्यान से कथा सुनता था। पिताजी ने एक दिन कहा—तू बड़ा भक्त है। यह सुन कर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई थी।

मैं गायत्री का जप बहुत किया करता था। एक बार घर वालों को शंका हुई कि मैं साधु न हो जाऊँ और वे मेरी निगरानी रखने लगे थे।

एंट्रेंस पास करने के बाद मैं म्योर सेंट्रल कालेज में पढ़ने लगा। कालेज में एक 'फ्रेंड्स डिबेटिंग सोसायटी' थी। उसमें मैंने पहली स्पीच अँग्रेजी में दी। वह इतनी अच्छी समझी गयी

कि इंस्टीट्यूट के सेक्रेटरी लाला सांवलदास ने मेरी पीठ ठोंकी और बड़ी प्रशंसा की। लाला सांवलदास बाद को डिप्टी कलक्टर हो गये और उससे रिटायर होने के बाद वे रेवेन्यू मेम्बर के पद पर कुछ समय तक काम करते रहे। बच्चाजी (लाला मनमोहन-दास, इलाहाबाद के एक रईस) के बगल में उनकी कोठी है।

जब मैं कालेज में पढ़ता था, उन दिनों माघ-मेले के सरकारी इंतजाम से हिन्दू लोग बहुत असंतुष्ट थे। पंडित आदित्य राम भट्टाचार्य कालेज में संस्कृत के प्रोफेसर थे। लोक सेवा के कार्यों में मेरी रुचि देख कर वे बहुत प्रसन्न हुए। वे मुझ पर बहुत कृपा रखते थे। जीवन-भर वे मुझ पर पुत्र का-सा स्नेह रखते रहे। मैं भी उनसे गुरु के योग्य भक्ति-युक्त बर्ताव रखता था। उनसे मुझे पब्लिक कामों में भाग लेने में बड़ा प्रोत्साहन मिला। उन्होंने प्रयाग में 'हिन्दू समाज' नाम की एक सभा सन् १८८० में कायम की। मैं उस सभा में जाने लगा। उन्होंने हिन्दुओं की एकता के सम्बन्ध में एक बड़ी ही सुन्दर अपील तैयार की थी।

जब मैं बी० ए० पास हुआ, घर में गरीबी बहुत थी। घर के प्राणियों को अन्न-वस्त्र का भी क्लेश था। मामूली-सा घर था। घर में गाय थी। माँ अपने हाथ से उसको सानी चलाती और उसका गोबर उठाती थी। स्त्री आधा पेट खाकर संतोष कर लेती थी और फटी हुई धोतियाँ सी कर पहना करती थी। मैंने बहुत वर्षों

बाद एक दिन उससे पूछा—तुमने कभी सास से खाने-पहनने के कष्ट की शिकायत नहीं की ? स्त्री ने कहा—शिकायत करके क्या करती ? वे कहाँ से देतीं ? घर का कोना-कोना जितना वे जानती थीं, उतना ही मैं भी जानती थी। मेरा दुःख सुनकर वे रो देतीं, और क्या करतीं ?

बी० ए० पास होने के बाद मेरी बड़ी इच्छा थी कि बाबा और पिता के समान मैं भी कथा कहूँ और धर्म का प्रचार करूँ। किन्तु घर की ग़रीबी से सब प्राणियों को दुःख हो रहा था। उन्हीं दिनों उसी गवर्नमेंट स्कूल में, जिसमें मैं पढ़ा था, एक अध्यापक की जगह खाली हुई। मेरे चचेरे भाई पंडित जयगोविन्दजी उसमें हेड पंडित थे। उन्होंने मुझसे कहा कि इस जगह के लिये कोशिश करो। मेरी इच्छा धर्म-प्रचार में अपना जीवन लगा देने की थी। मैंने नाहीं कर दी। उन्होंने माँ से कहा।

माँ मुझे कहने के लिये आई। मैंने माँ की ओर देखा। उसकी आँखें डबडबा आयी थीं। वे आखें मेरी आँखों में अब तक थँमी हैं। मेरी सब कल्पनायें माँ के आँसू में डूब गयीं और मैंने आवेलम्ब कहा—माँ, तुम कुछ न कहो; मैं नौकरी कर लूँगा। जगह ४०) महीने की थी। मैंने इसी वेतन पर स्कूल में अध्यापक की नौकरी कर ली। दो महीने बाद मेरा मासिक वेतन ६०) हो गया।

+　　　　+　　　　+

स्वास्थ्य के तीन खम्भे हैं। आहार, शयन और ब्रह्मचर्य।

तीनों का युक्ति-पूर्वक सेवन करने से स्वास्थ्य अच्छा रहेगा। मैंने वह आहार किया है, जो राजा-महाराजाओं को भी दुर्लभ है। राजा-महाराजा नौकर के हाथ का बनाया भोजन पाते हैं; जो प्रेम से नहीं, बल्कि वेतन लेकर भोजन बनाते हैं। मैंने बालकपन से लेकर युवावस्था के अन्त तक माता, सास, बहन और साली के हाथ का भोजन पाया है, जो प्रत्येक दिन मेरी रुचि का स्वादिष्ट भोजन बड़े प्रेम से बनातीं और बड़े प्रेम से खिलातीं थीं।

लड़कपन में माता मुझे आध पाव ताजा मक्खन रोज खिलातीं थीं। सबेरे मोहनभोग खाने को मिलता था। एक डाक्टर ने कहा था कि ज्यादा मक्खन खाना व्यर्थ है, क्योंकि वह थोड़ा ही पचता है, शेष यों ही निकल जाता है। माता ने कहा—तुम डाक्टर को कहने दो; तुम एक छटाँक मक्खन और एक सेर दूध रोज लिया करना। तब से अब तक मैं मक्खन और दूध उसी परिमाण से रोज लेता हूँ जैसा माता ने बताया है।

आचार्य पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी

[हिन्दी साहित्य के इतिहास में आचार्य द्विवेदीजी को एक युग-निर्माता का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। आद्योपान्त उनका जीवन सत्यप्रियता, आदर्शवादिता और कर्त्तव्यपरायणता का जीवन था। उनकी आत्मकथा इसकी साक्षी है।]

आचार्य पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी

आत्मकथा

मैं एक ऐसे देहाती का एक मात्र आत्मज हूँ जिसका मासिक वेतन सिर्फ १०) था। अपने गाँव के देहाती मदरसे में थोड़ी-सी उर्दू और घर पर थोड़ी सी संस्कृत पढ़कर, १३ वर्ष की उम्र में, मैं ३६ मील दूर, रायबरेली के जिला स्कूल में अँग्रेजी पढ़ने गया। आटा-दाल घर से पीठ पर लादकर ले जाता था। दो आने महीने फीस देता था। दाल ही में आटे के पेड़े या टिकियाँ पकाकर पेट पूजा करता था। रोटी बनाना तब मुझे आता ही न था। संस्कृत भाषा उस समय स्कूल में वैसे ही अछूत समझी गई थी, जैसे कि मद्रास के नम्बूदरी ब्राह्मणों में वहाँ की शूद्र जाति समझी जाती है। विवश होकर अँग्रेजी के साथ फारसी पढ़ता था। एक वर्ष किसी तरह वहाँ कटा। फिर पुरवा, फतेहपुर और उन्नाव के स्कूलों में चार वर्ष काटे। कौटुम्बिक दुरावस्था के कारण मैं उससे आगे न बढ़ सका, मेरी स्कूली-शिक्षा की वहीं समाप्ति हो गई।

रेलवे में नौकरी

एक साल अजमेर में १५) महीने पर नौकरी करके पिताजी के पास बम्बई जा पहुँचा और तार का काम सीख कर जी० आई० पी० रेलवे में २०) महीने पर तार बाबू बना। बचपन ही से मेरी प्रवृत्ति सुशिक्षित जनों की संगति करने की ओर थी। दैवयोग से हरदा और हुशंगाबाद में मुझे ऐसी संगति सुलभ रही। फल यह हुआ कि मैंने अपने लिए चार सिद्धान्त या आदर्श निश्चित किये। यथा (१) वक्त की पाबन्दी करना, (२) रिश्वत न लेना, (३) अपना काम ईमानदारी से करना, और (४) ज्ञान-वृद्धि के लिये सतत प्रयत्न करते रहना। पहले तीन सिद्धान्तों के अनुकूल आचरण करना तो सहज था, पर चौथे के अनुकूल सचेष्ट रहना कठिन था, तथापि सतत अभ्यास से उसमें भी सफलता होती गई। तार बाबू होकर भी, टिकट बाबू, माल बाबू, स्टेशन मास्टर यहाँ तक कि रेल की पटरियाँ बिछाने और उसकी सड़क की निगरानी करने वाले प्लेटियर (Permanent Way Inspector) तक का भी काम मैंने सीख लिया। फल अच्छा ही हुआ। अफसरों की नजर मुझ पर पड़ी। मेरी तरक्की होती गई। वह इस तरह कि एक दफे छोड़कर मुझे कभी तरक्की के लिए दरख्वास्त नहीं देनी पड़ी। जब इण्डियन मिडलैण्ड रेलवे बनी और उसके दफ्तर झाँसी में खुले तब, जी० आई० पी० रेलवे के मुलाजिम जो साहब

वहाँ के जनरल मैनेजर मुकर्रर हुए वे मुझे भी अपने साथ झाँसी लाये, और नये-नये काम मुझसे लेकर मेरी पदोन्नति करते गये। इस उन्नति का प्रधान कारण मेरी ज्ञानलिप्सा और गौण कारण उन साहब बहादुर की कृपा या गुण-ग्राहकता थी। दस-बारह वर्ष बाद मेरी मासिक आय मेरी योग्यता से कई गुनी अधिक हो गई।

जब इण्डियन मिडलैण्ड रेलवे जी० आई० पी० रेलवे से मिला दी गई तब कुछ दिन बम्बई में रहकर मैंने अपना तबादिला झाँसी को करा लिया। वहीं रहना मुझे अधिक पसन्द था। पाँच वर्ष मैं वहाँ डिस्ट्रिक्ट ट्राफिक सुपरिंटेंडेंट के दफ्तर में रहा। वे दिन मेरे अच्छे नहीं कटे। लार्ड कर्जन का देहली दरबार उसी जमाने हुआ था। मेरे गौरांग प्रभु अपनी रातें अपने बँगलों या क्लब में बिताते थे। मैं दिन भर दफ्तर का काम करके रात भर, अपनी कुटिया में पड़ा हुआ उनके नाम आये तार लेता और उनके जवाब देता था। ये तार उन स्पेशल रेल-गाड़ियों के सम्बन्ध में होते थे जो दक्षिण से देहली की ओर दौड़ा करती थीं। उन चाँदी के टुकड़ों की बदौलत जो मुझे हर महीने मिलते थे, मैंने अपने ऊपर किये गये इस अत्याचार को महीनों बरदाश्त किया।

नौकरी से इस्तीफा

मैं यदि किसी के अत्याचार को सह लूँ, तो उससे मेरी

सहनशीलता तो अवश्य सूचित होती है; पर उससे मुझे औरों पर अत्याचार करने का अधिकार नहीं प्राप्त हो जाता। परन्तु कुछ समय बाद कुछ ऐसा बना कि मेरे प्रभु ने मेरे द्वारा औरों पर भी अत्याचार कराना चाहा। हुक्म हुआ कि तुम इतने कर्मचारियों को लेकर रोज सुबह ८ बजे दफ्तर में आया करो और ठीक १० बजे मेरे कागज मेरी मेज पर मुझे रक्खे मिलें। मैंने कहा—मैं आऊँगा, पर औरों को आने के लिये लाचार न करूंगा। इन्हें हुक्म देना हुजूर का काम है। बस, बात बढ़ी और बिना किसी सोच-विचार के मैंने इस्तीफा दे दिया। बाद को उसे वापिस लेने के लिए इशारे ही नहीं सिफारिशें तक की गईं। पर, सब व्यर्थ हुआ। क्या इस्तीफा वापिस लेना चाहिए, यह पूछने पर मेरी पत्नी ने विपण्ण होकर कहा- क्या थूक कर भी कोई उसे चाटता है? मैं बोला—नहीं, ऐसा कभी न होगा, तुम धन्य हो। तब उसने तो ॥) रोज तक की आमदनी से भी मुझे खिलाने-पिलाने और गृहकार्य चलाने का दृढ़ संकल्प प्रकट किया और "सरस्वती" की सेवा से मुझे हर महीने जो २०) उजरत और ३) डाक खर्च की आमदनी होती थी, उसी से सन्तुष्ट रहने का निश्चय किया। मैंने सोचा—किसी समय तो मुझे महीने में १५) ही मिलते थे; २३) तो उसके ड्यौढ़े से भी अधिक हैं। इतनी आमदनी मुझ देहाती के लिये कम नहीं।

मेरे पूर्वज

मेरे पिता ईस्ट इंडिया कम्पनी की पलटन में सैनिक या सिपाही थे। मामूली हिन्दी पढ़े थे, बड़े भक्त थे। सिपाहीगीरी के काम से छुट्टी पाने पर राम-लक्ष्मण की पूजा किया करते थे। इसी से साथी सिपाहियों ने उनका नाम रक्खा था—लछिमनजी। गदर में पिता की पलटन बागी हो गई। जो बच निकले वे बच गये; बाकी जवान तोपों से उड़ा दिये गये। पलटन उस समय होशियारपुर (पंजाब) में थी। पिता ने भाग कर अपना शरीर शतलज की वेगवती धारा को अर्पण कर दिया। एक या दो दिन बाद, बेहोशी की हालत में, सैकड़ों कोस दूर, आगे की तरफ, कहीं वे किनारे लग गये। होश आने पर सँभले और हरी-हरी मोटी घास के तिनके चूस-चूस कर कुछ शक्ति सम्पादन की। माँगते-खाते, साधु-वेश में, कई महीने बाद, वे घर आये। घर पर कुछ दिन रह कर, इधर-उधर भटकते हुए, वे बम्बई पहुँचे। वहाँ वल्लभ-सम्प्रदाय के एक गोस्वामीजी के यहाँ वे नौकर हो गये। इस तरह वहाँ भी उन्हें ठाकुरजी की सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मेरे समर्थ होने तक वे इसी सम्प्रदाय के गोस्वामियों के मुलाजिमत में रहे। फिर सदा के लिए उसे छोड़कर घर चले आये

करते थे। उनकी एकत्र की हुई सैकड़ों हस्तलिखित पुस्तकें बेच-बेच कर मेरी पितामही ने मेरे पिता और पितृव्य आदि का पालन किया। वयस्क होने पर दो-चार पुस्तकें मुझे भी घर में पड़ी मिलीं।

मेरे पितृव्य दुर्गाप्रसाद नाम-मात्र को हिन्दी क्या कैथी जानते थे। पर उनमें नये-नये किस्से बनाकर कहने की अद्भुत शक्ति थी। रायबरेली जिले में दीनशाह के गौरा के तत्कालीन ताल्लुकेदार, भूपालसिंह के यहाँ किस्से सुनाने के लिए वे नौकर थे।

मेरे नाना और एक मामा भी संस्कृतज्ञ थे। मामा की संस्कृतज्ञता का परिचय स्वयं मैंने उनके पास बैठकर प्राप्त किया था।

साहित्य-प्रेम

नहीं कह सकता शिक्षा-प्राप्ति की तरफ प्रवृत्ति होने का संस्कार मुझे किस से प्राप्त हुआ—पिता से या पितामह से या मातामह से या अपने ही पूर्वजन्म के कृतकर्म से। बचपन ही से मेरा अनुराग तुलसीदास की रामायण और ब्रजवासीदास के ब्रज-विलास पर हो गया था। फुटकर कवित्त भी मैंने सैकड़ों कण्ठ कर लिये थे। हुशंगाबाद में रहते समय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के 'कविवचन-सुधा' और गोस्वामी राधाचरण के एक मासिक पत्र ने मेरे उस अनुराग की वृद्धि कर दी। वहीं मैंने

बाबू हरिश्चन्द्र कुलश्रेष्ठ नाम के एक सज्जन से, जो वहाँ कचहरी में मुलाजिम थे, पिंगल का पाठ पढ़ा। फिर क्या था, मैं अपने को कवि ही नहीं, महाकवि समझने लगा। मेरा यह रोग बहुत समय तक ज्यों-का-त्यों बना रहा। झांसी आने पर जब मैंने पण्डितों की कृपा से प्रकृत कवियों के काव्यों का अनुशीलन किया तब मुझे अपनी भूल मालूम हो गई और छन्दोबद्ध प्रलापों के जाल से मैंने सदा के लिए छुट्टी ले ली, पर गद्य में कुछ-न-कुछ लिखना जारी रखा। संस्कृत और अँग्रेजी पुस्तक के कुछ अनुवाद मैंने किये।

इण्डियन प्रेस से परिचय

जब मैं झाँसी में था, तब वहाँ के तहसीली स्कूल के एक अध्यापक ने मुझे कोर्स की एक पुस्तक दिखाई। नाम था तृतीय रीडर। उसने उसमें बहुत से दोष दिखाये। उस समय तक मेरी लिखी हुई कुछ समालोचनाएँ प्रकाशित हो चुकी थीं। इससे उस अध्यापक ने मुझसे उस रीडर की भी आलोचना लिखकर प्रकाशित करने का आग्रह किया। मैंने रीडर पढ़ी। अध्यापक महाशय की शिकायत को ठीक पाया। नतीजा यह हुआ कि उसकी समालोचना मैंने पुस्तकाकार में प्रकाशित की। इस रीडर का स्वत्वाधिकारी था, प्रयाग का इण्डियन प्रेस। अतएव इस समालोचना की बदौलत इण्डियन प्रेस से मेरा परिचय हो गया

और कुछ समय बाद उसने 'सरस्वती' पत्रिका का सम्पादन-कार्य मुझे दे डालने की इच्छा प्रकट की। मैंने उसे स्वीकार कर लिया। यह घटना रेल की नौकरी छोड़ने के एक साल पहले की है।

नौकरी छोड़ने पर मित्रों ने कई प्रकार से मेरी सहायता करने की इच्छा प्रकट की। किसी ने कहा—आओ, मैं तुम्हे अपना प्राइवेट सेक्रेटरी बनाऊँगा। किसी ने लिखा—मैं तुम्हारे साथ बैठकर संस्कृत पढ़ूँगा, किसी ने कहा—मैं तुम्हारे लिए छापाखाना खुलवा दूंगा। इत्यादि। पर मैंने सबको अपनी कृतज्ञता की सूचना दे दी और लिख दिया कि अभी मुझे आपके साहाय्यदान की विशेष आवश्यकता नहीं। मैंने सोचा—अव्यवस्थित-चित्त मनुष्य की सफलता में सदा सन्देह रहता है। क्यों न मैं अङ्गीकृत कार्य ही में अपनी सारी शक्ति लगा दूं? प्रयत्न और परिश्रम की बड़ी महिमा है। अतएव "सब तज, हरि भज" की मसल को चरितार्थ करता हुआ, इण्डियन प्रेस के प्रदत्त काम ही में, मैं अपनी शक्ति खर्च करने लगा। हाँ, जो थोड़ा बहुत अवकाश कभी मिलता, तो उसमें अनुवाद आदि का कुछ काम और भी करता। समय की कमी के कारण मैं विशेष अध्ययन न कर सका। इसी से "सम्पत्ति-शास्त्र" नामक पुस्तक को छोड़कर और किसी अच्छे विषय पर मैं कोई नई पुस्तक न लिख सका।

मेरी रसीली पुस्तकें

हरे ! हरे ! मैंने भूल की। और भी कई पुस्तकें मैंने जरूर लिखीं। उस समय तक मैंने जो कुछ लिखा था उससे मुझे टकों की प्राप्ति तो कुछ हुई न थी। हां ग्रंथकार, लेखक, समालोचक और कवि जो पदवियां मैंने स्वयं अपने ऊपर लाद लीं, उनसे मेरे गर्व की मात्रा में बहुत कुछ इजाफा जरूर हो गया था। मेरे तत्कालीन मित्रों और सलाहकारों ने उसे पर्याप्त न समझा।

उन्होंने कहा—अजी कोई ऐसी किताब लिखो जिससे टके सीधे हों। रुपए का लोभ चाहे जो करावे। मैं उनके चकमे में आ गया ! योरप और अमेरिका तक में प्रकाशित पुस्तकें मंगा कर पढ़ीं। संस्कृत-भाषा में प्राप्त सामग्री से भी लाभ उठाया। बहुत परिश्रम करके कोई दो सौ सफे की एक पुस्तक लिख डाली। नाम उसका रक्खा—तरुणोपदेश। मित्रों ने उसे देखा। कहा, अच्छी तो है, पर इसमें काफी सरसता नहीं। पुस्तक ऐसी होनी चाहिए जिसका नाम ही सुनकर और विज्ञापन मात्र ही पढ़कर खरीदार पाठक उस पर इस तरह टूटें जिस तरह गुड़ नहीं, बहते हुए व्रण या गन्दगी पर मक्खियों के झुंड के झुंड टूटते है। कामकला लिखो, कामकिल्लोल लिखो, कन्दर्प-दर्पण लिखो, रति रहस्य लिखो, मनोज-मंजरी लिखो, अनंग-रंग लिखो। मैं सोच-विचार में पड़ गया। बहुत दिनों तक चित्त दोलायमान

रहा। अन्त में जीत मेरे मित्रों की ही रही। उनके प्रस्तावित नाम मुझे पसन्द न आए। मैं उनसे भी बाँस भर आगे बढ़ गया। कवि तो मैं था ही, मैंने चार-चार चरण वाले लम्बे-लम्बे छन्दों में एक पद्यात्मक पुस्तक लिख डाली--ऐसी पुस्तक जिसके प्रत्येक पद्य से रस की नदी नहीं, तो बरसाती नाला जरूर बह रहा था। नाम भी मैंने ऐसा चुना जैसा कि उस समय तक उस रस के अधिष्ठाता को भी न सूझा था। मैं तीस-चालीस साल पहले की बात कर रहा हूँ, आजकल की नहीं। आजकल तो वह नाम बजारू हो रहा है—और अपने अलौकिक आकर्षण के कारण निर्धनों को धनी और धनियों को धनाधीश बना रहा है।

अपने बूढ़े मुँह के भीतर धँसी हुई जबान से आपके सामने उस नाम का उल्लेख करते मुझे बड़ी लज्जा मालूम होगी, पर पापों का प्रायश्चित करने के लिए, आप पंच-समानरूपी परमेश्वर के सामने शुद्ध हृदय से, उसका निर्देश करना ही पड़ेगा। अच्छा तो उसका नाम था या है—सोहागरात। उसमें क्या है यह आप पर प्रकट करने की जरूरत नहीं, क्योंकि—

परेंगितज्ञानफला: हि बुद्धय:

मेरे मित्रों ने इस पिछली पुस्तक को बहुत पसन्द किया, उसे बहुत सरस पाया। अतएव उन्होंने मेरी पीठ खूब ठोकी। मैंने

भी अपना परिश्रम सफल समझा। अब लगा मैं हवाई किले बनाने। पुस्तक प्रकाशित होने पर उसे युक्तिपूर्वक बेचूँगा। मेरे घर रुपयों की वृष्टि होने लगेगी। शीघ्र ही मैं मोटर नहीं तो एक विक्टोरिया खरीद कर उस पर हवा खाने निकला करूँगा। देहात छोड़ कर दशाश्वमेध घाट पर कोई तिमंजिला मकान बनवा कर या मोल लेकर काशीवास करूँगा। कई कर्मचारी रक्खूँगा। अन्यथा वेल्यूपेएबिल कौन रवाना करेगा?

परन्तु अभागियों के सुख-स्वप्न सच्चे नहीं निकलते। मेरे हवाई महल एक पल में ढह पड़े। मेरी पत्नी कुछ पढ़ी-लिखी थी। उससे छिपाकर ये दोनों पुस्तकें मैंने लिखी थीं। दुर्घटना कुछ ऐसी हुई कि उसने ये पुस्तकें देख लीं। देख ही नहीं, उलट-पलट कर उसने उन्हें पढ़ा भी। फिर क्या था, उसके शरीर में कराल काली का आवेश हो आया। उसने मुझ पर वचन-विन्यास-रूपी इतने कड़े कशाघात किए कि मैं तिल-मिला उठा। उसने उन दोनों पुस्तकों की कापियों को आजन्म कारावास या कालेपानी की सजा दे दी। वे उसके सन्दूक में बन्द हो गईं। उसके मरने पर ही उनका छुटकारा उस दाय मुलहब्स से हुआ। छूटने पर मैंने उन्हें एकान्त सेवन की आज्ञा दे दी। क्योंकि सती की आज्ञा का उल्लंघन करने की शक्ति मुझ में नहीं। इस तरह मेरी पत्नी ने तो मुझे साहित्य के

उस पङ्क-पयोधि में डूबने से बचा लिया; आप भी मेरे उस दुष्कृत्य को क्षमा कर दें, तो बड़ी कृपा हो। इसी से मैंने इस बहुत कुछ अप्रासङ्गिक विषय के उल्लेख की यहाँ, इस विद्वत्समाज में, जरूरत समझी।

सरस्वती के सम्पादन में मेरे आदर्श

'सरस्वती' के सम्पादन का भार उठाने पर अपने लिये कुछ आदर्श निश्चित किये। मैंने संकल्प किया कि (१) वक्त की पाबन्दी करूँगा, (२) मालिकों का विश्वास-पात्र बनने की चेष्टा करूँगा (३) अपने हानि-लाभ की परवा न करके पाठकों के हानि-लाभ का सदा ख्याल रखूँगा। और (४) न्याय-पथ से कभी विचलित न हूँगा। इसका पालन कहाँ तक मुझ से हो सका। संक्षेप में सुन लीजिये—

१—संपादकजी बीमार हो गये, इस कारण "स्वर्ग-समाचार" दो हफ्ता बन्द रहा। मैनेजर महाशय के मामा परलोक-प्रस्थान कर गये। लाचार "विश्वमोहिनी पत्रिका" देर से निकल रही है। 'प्रलयङ्कारी पत्रिका' के विधाता का फौउनटेनपेन टूट गया। उसके मातम में १३ दिन का काम बन्द रहा इसी से पत्रिका के प्रकटन में विलम्ब हो गया। प्रेस की मैशीन नाराज हो गई, क्या किया जाता 'त्रिलोक मित्र' का यह अङ्क, इसी से समय पर न छप सका। इस तरह की घोषणायें मेरी

दृष्टि में बहुत पड़ चुकी थीं। मैंने कहा इन बातों का कायल नहीं। प्रेस की मैशीन टूट जाय, तो उसका जिम्मेदार मैं नहीं। पर कापी समय पर न पहुँचे, तो उसका जिम्मेदार मैं हूँ। मैंने अपनी इस जिम्मेदारी का निर्वाह जी-जान होम कर किया। चाहे पूरा का पूरा अङ्क मुझे ही क्यों न लिखना पड़ा हो, कापी समय पर ही मैंने भेजी। मैंने तो यहाँ तक किया कि कम-से-कम छः महीने आगे की सामग्री सदा अपने पास प्रस्तुत रक्खी। सोचा कि यदि मैं महीनों बीमार पड़ जाऊँ, तो क्या हो? 'सरस्वती' का प्रकाशन तब तक बन्द रखना क्या ग्राहकों के साथ अन्याय करना न होगा? अस्तु, मेरे कारण सोलह-सत्रह वर्षों के दीर्घकाल में एक बार भी 'सरस्वती' का प्रकाशन नहीं रुका। जब मैंने अपना काम छोड़ा, तब भी मैंने नए सम्पादक को बहुत से बचे हुए लेख अर्पण किये। आप विश्वास कीजिए, उस समय के उपार्जित और अपने लिखे हुए कुछ लेख अब भी मेरे संग्रह में सुरक्षित हैं।

२—मालिकों का विश्वासभाजन बनने की चेष्टा में मैं यहाँ तक सचेत रहा कि मेरे कारण उन्हें कभी उलझन में पड़ने की नौबत नहीं आई। "सरस्वती" के जो उद्देश्य थे उनकी रक्षा मैंने दृढ़ता से की। एक दफे अलबत्ते मुझे इलाहाबाद के डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट के बँगले पर हाजिर होना पड़ा। पर मैं भूल से तलब किया गया था। एक गैरकानूनी लाटरी का विज्ञापन

"सरस्वती" में निकल गया था। उसी के सम्बन्ध में मजिस्ट्रेट की चेतावनी देनी थी। वह और किसी को मिली, क्योंकि विज्ञापन की छपाई से मेरा कोई सरोकार न था।

मेरी सेवा में "सरस्वती" का प्रचार जैसे-जैसे बढ़ता गया और मालिकों का मैं जैसे-जैसे अधिकाधिक विश्वास-भाजन होता गया, वैसे-ही-वैसे मेरी सेवा का बदला भी मिलता गया। आर्थिक स्थिति प्रायः वैसे ही हो गई, जैसी कि रेलवे की नौकरी छोड़ने के समय थी। इसमें मेरी कारगुजारी कम, दिवंगत बा० चिन्तामणि घोष की उदारता ही अधिक कारणीभूत थी। उन्होंने मेरे सम्पादन-स्वातंत्र्य में कभी बाधा नहीं डाली; वे मुझे अपना कुटुम्बी-सा समझते रहे और उनके उत्तराधिकारी अब तक भी मुझे वैसा ही समझते हैं।

३—इस समय तो कितनी महारानियाँ तक हिन्दी का गौरव बढ़ा रही हैं, पर उस समय एक मात्र "सरस्वती" ही पत्रिकाओं की रानी नहीं, पाठकों की सेविका थी। तब उसमें कुछ छपाना या किसी के जीवन-चरित्र आदि का प्रकाशन कराना जरा बड़ी बात समझी जाती थी। दशा ऐसी होने के कारण मुझे कभी-कभी बड़े-बड़े प्रलोभन दिये जाते थे। कोई कहता मेरी मौसी का मरसिया छाप दो, मैं तुम्हें निहाल कर दूँगा। कोई लिखता अमुक सभापति की "स्पीच" छाप दो, मैं

तुम्हारे गले में बनारसी दुपट्टा डाल दूंगा। कोई आज्ञा देता—मेरे प्रभु का सचित्र जीवन-चरित्र निकाल दो, तो तुम्हें एक बढ़िया घड़ी या पैर-गाड़ी नजर की जावेगी। इन प्रलोभनों का विचार करके मैं अपने दुर्भाग्य को कोसता और कहता कि जब मेरे आकाश-महलों को खुद मेरी ही पत्नी ने गिरा कर चूर कर दिया, तब भला ये घड़ियाँ और गाड़ियाँ मैं कैसे हजम कर सकूँगा। नतीजा यह होता कि मैं बहरा और गूँगा बन जाता और "सरस्वती" में वह मसाला जाने देता जिससे पाठकों का लाभ समझता। मैं उनकी रुचि का सदैव ख्याल रखता और यह देखता रहता कि मेरे किसी काम से उनको सत्पथ से विचलित होने का साधन न प्राप्त हो। संशोधन द्वारा लेखों की भाषा अधिक संख्यक पाठकों की समझ में आने लायक कर देता। यह न देखता कि यह शब्द अरबी का है या फारसी का या तुर्की का। देखता सिर्फ यह कि इस शब्द, वाक्य या लेख का आशय अधिकांश पाठक समझ लेंगे या नहीं। अल्पज्ञ होकर भी किसी पर अपनी विद्वता की झूठी छाप लगाने की कोशिश मैंने कभी नहीं की।

४—"सरस्वती" में प्रकाशित मेरे लघु लेखों (नोटों) और आलोचनाओं ही से सर्वसाधारण जन इस बात का पता लगा सकते हैं कि मैंने कहाँ तक न्याय-मार्ग का अवलम्बन किया है। जान-बूझ कर मैंने कभी अपनी आत्मा का हनन नहीं किया।

न किसी के प्रसाद की आकांक्षा की, न किसी के कोप से विचलित ही हुआ। इस प्रांत के कितने ही न्यायिष्ट सामाजिक सत्पुरुषों ने "सरस्वती" का जो "बायकाट" कर दिया था, वह मेरे किस अपराध का सूचक था, इसका निर्णय सुधीजन ही कर सकते हैं।

उपन्यास-सम्राट् मुंशी प्रेमचन्द

[उपन्यास-सम्राट् मुंशी प्रेमचन्द ने अपने हृदय-कोष के अमूल्य रत्नों से हिन्दी के कथा-साहित्य का भंडार भरा। लेकिन विधि की विडम्बना से उनका जीवन निर्धनता से आरंभ होकर अन्त तक निर्धन ही बना रहा। फिर भी अपने आदर्शों की रक्षा करते हुए वे निरन्तर साहित्य-सृजन में संलग्न रहे। 'जीवन सार' उन्हीं की कठिनाइयों की आत्मकथा है।—सं०]

उपन्यास-सम्राट् मुंशी प्रेम

जीवन-सार

मेरा जीवन-सपाट समतल मैदान है, जिसमें कहीं-कहीं गढ़े तो हैं, पर टीलों, पर्वतों, घने जंगलों, गहरी घाटियों और खड्डों का स्थान नहीं है। जो सज्जन पहाड़ों की सैर के शौकीन हैं, उन्हें तो यहाँ निराशा ही होगी। मेरा जन्म संवत् १९३७ में हुआ। पिता डाकखाने में क्लर्क थे, माता मरीज, एक बड़ी बहन भी थीं। इस समय पिताजी शायद २०) पाते थे। ४०) तक पहुँचते-पहुँचते उनकी मृत्यु हो गई। यों वे बड़े बिचारशील, जीवन-पथ पर आँखें खोल कर चलने वाले आदमी थे, लेकिन आखिरी दिनों में एक ठोकर खा ही गये और खुद तो गिरे ही थे, उसी धक्के में मुझे भी गिरा दिया। पन्द्रह साल की अवस्था में उन्होंने मेरा विवाह कर दिया और विवाह करने के साल भर ही बाद परलोक सिधारे। उस समय मैं नवें दरजे में पढ़ता था। घर में मेरी स्त्री थी, विमाता थीं, उनके दो बालक थे और आमदनी एक पैसे की नहीं। घर में जो कुछ लेई-पूँजी थी, वह पिताजी की छः महीने की बीमारी और क्रिया-

कर्म में खर्च हो चुकी थी। और मुझे अरमान था वकील बनने का और एम० ए० पास करने का। नौकरी उस जमाने में भी इतनी ही दुष्प्राप्य थी, जितनी अब है। दौड़-धूप करके शायद दस-बारह की कोई जगह पा जाता; पर यहाँ तो आगे पढ़ने की धुन थी—पाँव में लोहे की नहीं, अष्टधातु की बेड़ियाँ थी और मैं चढ़ना चाहता था—पहाड़ पर !

पाँव में जूते न थे, देह पर कपड़े न थे। महँगी अलग। १० सेर के जौ थे। स्कूल में साढ़े तीन बजे छुट्टी मिलती थी। काशी के क्विन्स कालेज में पढ़ता था। हेडमास्टर ने फीस माफ कर दी थी। इम्तहान सिर पर था। और मैं बाँस के फाटक पर एक लड़के को पढ़ाने जाता था। जाड़ों के दिन थे। चार बजे पहुँचता था। पढ़ाकर छः बजे छुट्टी पाता। वहाँ से मेरा घर देहात में पाँच मील पर था। तेज चलने पर भी आठ बजे से पहले घर न पहुँच सकता और प्रातः काल आठ ही बजे फिर घर से चलना पड़ता था, कभी वक्त पर स्कूल न पहुँचता। रात को भोजन करके कुप्पी के सामने पढ़ने बैठता और न जाने कब सो जाता। फिर भी हिम्मत बाँधे हुए था।

मैट्रिक्युलेशन तो किसी तरह पास हो गया; पर आया सेकंड डिवीजन में और क्विन्स कालेज में भरती होने की आशा न रही। फीस केवल अव्वल दर्जे ही वालों की मुआफ हो सकती थी। संयोग से उसी साल हिन्दू कालेज खुल गया था।

मैंने इस नये कालेज में पढ़ने का निश्चय किया। प्रिंसिपल थे—मि० रिचर्डसन। उनके मकान पर गया। वे पूरे हिन्दुस्तानी वेश में थे। कुरता और धोती पहने हुए फर्श पर बैठे कुछ लिख रहे थे। मगर मिजाज को तबदील करना इतना आसान न था। मेरी प्रार्थना सुनकर—आधी ही कहने पाया था—बोले कि घर पर मैं कालेज की बात-चीत नहीं करता, कालेज में आओ। खैर, मैं कालेज में गया। मुलाकात तो हुई; पर निराशा जनक! फीस मुआफ न हो सकती थी। अब क्या करूँ। अगर प्रतिष्ठित सिफारिशें ला सकता, तो मेरी प्रार्थना पर कुछ विचार होता; लेकिन देहाती युवक को शहर में जानता ही कौन था।

रोज घर से चलता कि कहीं से सिफारिश लाऊँ; पर १० मील की मंजिल मारकर शाम को घर लौट आता। किससे कहूँ! कोई अपना पुछत्तर न था।

कई दिनों बाद सिफारिश मिली। एक ठाकुर इन्द्रनारायण-सिंह हिन्दू कालेज की प्रबन्ध-कारिणी सभा में थे। उनसे जाकर रोया। उन्हें मुझ पर दया आ गई। सिफारिशी चिट्ठी दे दी। उस समय मेरे आनन्द की सीमा न थी। खुश होता हुआ घर आया। दूसरे दिन प्रिन्सिपल से मिलने का इरादा था; लेकिन घर पहुँचते ही मुझे ज्वर आ गया और दो सप्ताह से पहले न हिला। नीम का काढ़ा पीते-पीते नाक में दम आ गया

एक दिन द्वार पर बैठा था कि मेरे पुरोहितजी आ गये। मेरी दशा देख कर समाचार पूछा। और तुरन्त खेतों में जाकर एक जड़ी खोद लाये और उसे धोकर सात दाने काली मिर्च के साथ पिसवा कर मुझे पिला दिया। उसने जादू का असर किया। ज्वर चढ़ने में घंटे ही भर की देरी थी। इस ओषधि ने, मानो, जाकर उसका गला ही दबा दिया। मैंने बार-बार पण्डितजी से उस जड़ी का नाम पूछा, पर न बताया। कहा—नाम बता देने से उसका असर जाता रहेगा।

एक महीने बाद मैं मि० रिचर्डसन से मिला और सिफारिशी चिट्ठी दिखाई। प्रिंसिपल ने मेरी तरफ तीव्र नेत्रों से देखकर पूछा—इतने दिन से कहाँ थे?

'बीमार हो गया था?'

'क्या बीमारी थी?'

मैं इस प्रश्न के लिए तैयार न था। अगर ज्वर बताता हूँ, तो शायद साहब मुझे झूठा समझें। ज्वर मेरी समझ में हलकी चीज। जिसके लिए इतनी लम्बी गैर हाजिरी अनावश्यक थी। कोई ऐसी बीमारी बतानी चाहिए, जो अपनी कष्टसाध्यता के कारण दया भी उभारे। उस वक्त मुझे और किसी बीमारी का नाम याद न आया। ठाकुर इन्द्रनारायण सिंह ने जब मैं सिफारिश के लिए मिला था, तब उन्होंने अपने दिल की धड़कन

की बीमारी की चरचा की थी। वह शब्द मुझे याद आ गया। मैंने कहा—पैलपिटेशन आफ हार्ट, सर।

साहब ने विस्मित होकर मेरी ओर देखा और कहा—अब तुम बिल्कुल अच्छे हो?

'जी हाँ!'

'अच्छा, प्रवेश-पत्र भर कर लाओ!'

मैंने समझा, बेड़ा पार हुआ। फार्म लिया, खानेपूरी की और पेश कर दिया। साहब उस समय कोई क्लास ले रहे थे। तीन बजे मुझे फार्म वापस मिला। उस पर लिखा था—'इसकी योग्यता की जाँच की जाय।'

यह नई समस्या उपस्थित हुई। मेरा दिल बैठ गया। अँग्रेजी के सिवा और किसी विषय में पास होने की मुझे आशा न थी, और बीजगणित और रेखागणित से मेरी रूह काँपती थी। जो कुछ याद था, वह भी भूल-भाल गया था; लेकिन दूसरा उपाय ही क्या था। भाग्य का भरोसा करके क्लास में गया और अपना फार्म दिखाया। प्रोफेसर साहब बंगाली थे। अँग्रेजी पढ़ा रहे थे। वाशिंगटन इर्विङ्ग का 'रिपवान विंकिल' था। मैं पीछे की कतार में जाकर बैठ गया। और दो-ही-चार मिनट में मुझे ज्ञात हो गया कि प्रोफेसर साहब अपने विषय के ज्ञाता हैं। घण्टा समाप्त होने पर उन्होंने आज के पाठ पर

मुझसे कई प्रश्न किये और फार्म पर 'सन्तोषजनक' लिख दिया।

दूसरा घण्टा बीजगणित का था। प्रोफेसर भी बंगाली थे। मैंने अपना फार्म दिखाया। नई संस्थाओं में प्रायः वही छात्र आते हैं; जिन्हें कहीं जगह नहीं मिलती। यहाँ भी यही हाल था। क्लासों में अयोग्य छात्र भरे हुये थे। पहिले रेले में जो आया वह भरती हो गया। भूख में साग-पात सभी रुचिकर होता है। अब पेट भर गया था। छात्र चुन-चुनकर लिये जाते थे। इन प्रोफेसर साहब ने गणित में मेरी परीक्षा ली और मैं फेल हो गया। फार्म पर गणित के खाने में 'असन्तोषजनक' लिख दिया।

मैं इतना हताश हुआ कि फार्म लेकर फिर प्रिंसिपल के पास न गया। सीधा घर चला आया। गणित मेरे लिए गौरी-शंकर की चोटी थी। कभी उस पर न चढ़ सका। इण्टरमीडिएट मे दो बार गणित में फेल हुआ और निराश होकर इम्तहान देना छोड़ दिया। दस-बारह साल के बाद जब गणित की परीक्षा मे अख्तियारी हो गई, तब मैंने दूसरे विषय लेकर आसानी से पास कर लिया। उस समय यूनिवर्सिटी के इस नियम ने, कितने युवकों की आकांक्षाओं का खून किया, कौन कह सकता है। खैर, मैं निराश होकर घर तो लौट आया, लेकिन पढ़ने की लालसा अभी तक बनी हुई थी। घर बैठ कर क्या करता?

किसी तरह गणित को सुधारूँ और फिर कालेज में भरती हो जाऊँ, यही धुन थी। इसलिये शहर में रहना जरूरी था। संयोग से एक वकील साहब के लड़कों को पढ़ाने का काम मिल गया। पाँच रुपये वेतन ठहरा। मैंने दो रुपये में अपना गुजर करके तीन रुपए घर पर देने का निश्चय किया। वकील साहब के अस्तबल के ऊपर एक छोटी-सी कच्ची कोठरी थी। उसी में रहने की मैंने आज्ञा ले ली। एक टाट का टुकड़ा बिछा दिया। बाजार से एक छोटा-सा लैम्प लाया और शहर में रहने लगा। घर से कुछ बरतन भी लाया। एक कब खिचड़ी पका लेता और बरतन धो-माँजकर लाइब्रेरी चला जाता। गणित तो बहाना था, उपन्यास आदि पढ़ा करता। पण्डित रतननाथ दर का 'फिसाना आजाद' उन्हीं दिनों पढ़ा। 'चन्द्रकान्ता-संतति' भी पढ़ी। बंकिम बाबू के उर्दू अनुवाद जितने पुस्तकालय में मिले सब पढ़ डाले। जिन वकील साहब के लड़कों को पढ़ाता था, उनके साले मेरे साथ मैट्रिक्युलेशन में पढ़ते थे। उन्हीं की सिफारिश से यह पद मिला था। उनसे दोस्ती थी; इसलिए जब जरूरत होती, पैसे उधार ले लिया करता था। वेतन मिलने पर हिसाब हो जाता था। कभी दो रुपए हाथ आते कभी तीन। जिस दिन वेतन दो-तीन रुपये मिलते, मेरा संयम हाथ से निकल जाता। प्यासी तृष्णा हलवाई की दूकान की ओर खींच ले जाती। दो-तीन आने पैसे खाकर ही उठता। उसी दिन घर जाता और दो-ढाई रुपये दे

आता। दूसरे दिन से उधार लेना शुरू कर देता; लेकिन कभी-कभी उधार माँगने में भी संकोच होता और दिन-का-दिन निराहार व्रत रखना पड़ जाता।

इस तरह चार-पाँच महीने बीते। इस बीच एक बजाज से दो-ढाई रुपये के कपड़े लिये थे। रोज उधर से निकलता था। उसे मुझ पर विश्वास हो गया था। जब महीने-दो-महीने निकल गए और मैं रुपये न चुका सका, तो मैंने उधर से निकलना ही छोड़ दिया। चक्कर देकर निकल जाता। तीन साल के बाद उसके रुपये अदा कर सका। उसी जमाने में शहर का एक बेलदार मुझसे हिन्दी पढ़ने आया करता था। वकील साहब के पिछवाड़े उसका मकान था। 'जान लो भैया' उसका सखुन तकिया था। हम लोग उसे 'जान लो भैया' ही कहा करते थे। एक बार मैंने उससे भी आठ आने पैसे उधार लिये थे। वे पैसे उसने मुझसे मेरे घर—गाँव में जाकर पाँच साल बाद वसूल किये। मेरी अब भी पढ़ने की इच्छा थी; लेकिन दिन-दिन निराश होता जाता था। जी चाहता था कहीं नौकरी कर लूँ, पर नौकरी कैसे मिलती है और कहाँ मिलती है, यह न जानता था।

जाड़ों के दिन थे। पास एक कौड़ी न थी। दो दिन एक-एक पैसे का चबेना खाकर काटे थे। मेरे महाजन ने उधार देने से इन्कार कर दिया था, या संकोच-वश मैं उससे माँग न सका

था। चिराग जल चुके थे। मैं एक बुक्सेलर की दूकान पर एक किताब बेचने गया। चक्रवर्ती गणित की कुञ्जी थी। दो साल हुए खरीदी थी। अब तक उसे बड़े जतन से रक्खे हुये था। पर आज चारों ओर से निराश होकर मैंने उसे बेचने का निश्चय किया। किताब दो रुपये की थी। लेकिन एक पर सौदा ठीक हुआ। मैं रुपया लेकर दूकान पर से उतरा ही था कि एक बड़ी-बड़ी मूँछों वाले सौम्य पुरुष ने, जो उस दूकान पर बैठे हुये थे, मुझसे पूछा—तुम यहाँ कहाँ पढ़ते हो?

मैंने कहा—पढ़ता तो कहीं नहीं हूँ, पर आशा करता हूँ कि कहीं नाम लिखा लूँगा।

'मैट्रिक्युलेशन पास हो?'

'जी हाँ।'

'नौकरी करने की इच्छा तो नहीं है?'

'नौकरी कहीं मिलती ही नहीं।'

वे सज्जन एक छोटे से स्कूल के हेडमास्टर थे। उन्हें एक सहकारी अध्यापक की जरूरत थी। अठारह रुपये वेतन था। मैंने स्वीकार कर लिया। अठारह रुपये उस समय मेरी निराशा-व्यथित कल्पना की ऊँची-से-ऊँची उड़ान से भी ऊपर थे। मैं दूसरे दिन हेडमास्टर साहब से मिलने का वादा करके चला, पाँव जमीन पर न पड़ते थे। यह १८९९ की बात है।

परिस्थितियों का सामना करने को तैयार था और गणित में अटक न जाता, तो अवश्य आगे जाता। पर सब से कठिन परिस्थिति युनिवर्सिटी की मनोविज्ञान-शून्यता थी, जो उस समय और उसके कई साल बाद तक उस डाकू का-सा व्यवहार करती थी, जो छोटे-बड़े सभी को एक खाट पर सुलाता था।

मैंने पहले-पहल १९०७ में गल्पें लिखनी शुरू कीं। डाक्टर रवीन्द्रनाथ की कई गल्पें मैंने अँग्रेजी में पढ़ी थीं और उनका उर्दू-अनुवाद उर्दू-पत्रिकाओं में छपवाया था। उपन्यास तो मैंने १९०१ ही से लिखना शुरू किया। मेरा एक उपन्यास १९०२ में निकला और दूसरा १९०४ में; लेकिन गल्प १९०७ से पहले मैंने एक भी न लिखी। मेरी पहली कहानी का नाम था — 'संसार का सब से अनमोल रत्न'। वह १९०७ में 'ज़माना' में छपी। उसके बाद मैंने चार-पाँच कहानियाँ और लिखीं। पाँच कहानियों का संग्रह; 'सोज़ेवतन' के नाम से १९०७ में छपा। उस समय बंग-भंग का आन्दोलन हो रहा था। कांग्रेस में गर्म-दल की सृष्टि हो चुकी थी। इन पाँचों कहानियों में स्वदेश-प्रेम की महिमा गाई गई थी।

उस वक्त मैं शिक्षा-विभाग में डिप्टी इन्सपेक्टर था और हमीरपुर के जिले में तैनात था। पुस्तक को छपे छः महीने हो चुके थे। एक दिन मैं अपनी रावटी में बैठा हुआ था, कि मेरे

नाम जिलाधीश का परवाना पहुँचा कि मुझसे तुरन्त मिलो। जाड़ों के दिन थे। साहब दौरे पर थे। मैंने बैलगाड़ी जुतवाई और रातोंरात ३०-४० मील तय करके दूसरे दिन साहब से मिला। साहब के सामने 'सोज़ेवतन' की एक प्रति रक्खी हुई थी। मेरा माथा ठनका। उस वक्त मैं 'नवाबराय' के नाम से लिखा करता था। मुझे इसका कुछ-कुछ पता मिल चुका था कि खुफिया पुलिस इस किताब के लेखक की खोज में है। मैं समझ गया, उन लोगों ने मुझे खोज निकाला और उसी की जवाबदिही करने के लिए बुलाया गया है।

साहब ने मुझसे पूछा—यह पुस्तक तुमने लिखी है?

मैंने स्वीकार किया।

साहब ने मुझसे एक-एक कहानी का आशय पूछा और अन्त मे बिगड़कर बोले—तुम्हारी कहानियों में 'सिडीशन' भरा हुआ है। अपने भाग्य को बखानो कि अँग्रेजी अमलदारी में हो। मुगलों का राज्य होता तो तुम्हारे दोनों हाथ काट लिये जाते। तुम्हारी कहानियाँ एकांगी हैं, तुमने अँग्रेजी सरकार की तौहीन की है, आदि। फैसला यह हुआ कि मैं 'सोज़ेवतन' की सारी प्रतियाँ सरकार के हवाले कर दूं और साहब की अनुमति के बिना कभी कुछ न लिखूं। मैंने समझा, चलो सस्ते छूटे। एक हजार प्रतियाँ छपी थीं। अभी मुश्किल से ३०० बिकी थीं।

शेष ७०० प्रतियाँ मैंने 'ज़माना कार्यालय' से मँगवाकर साहब की सेवा में अर्पित कर दीं।

मैंने समझा था, बला टल गई; किंतु अधिकारियों को इतनी आसानी से सन्तोष न हो सका। मुझे बाद को मालूम हुआ कि साहब ने इस विषय में जिले के अन्य कर्मचारियों से परामर्श किया। सुपरिंटेंडेंट पुलिस, दो डिप्टी कलेक्टर और डिप्टी इन्स्पेक्टर–जिनका मैं मातहत था–मेरी तकदीर का फैसला करने बैठे। एक डिप्टी कलेक्टर साहब ने गल्पों से उद्धरण निकालकर सिद्ध किया कि इनमें आदि से अन्त तक 'सिडीशन' के सिवा और कुछ नहीं है और 'सिडीशन' भी साधारण नहीं, बल्कि संक्रामक। पुलिस के देवता ने कहा—ऐसे खतरनाक आदमी को जरूर सख्त सजा देनी चाहिए। डिप्टी इन्पेक्टर साहब मुझसे बहुत स्नेह करते थे। इस भय से, कहीं मुआमला तूल न पकड़ ले, उन्होंने यह प्रस्ताव किया कि वे मित्र-भाव से मेरे राजनैतिक विचारों की थाह लें और उस कमेटी में रिपोर्ट पेश करें। उनका विचार था, कि मुझे समझा दें और रिपोर्ट में लिख दें, कि लेखक केवल कलम का उग्र है और राजनैतिक आन्दोलन से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। कमेटी ने उनके प्रस्ताव को स्वीकार किया। हालांकि पुलिस के देवता उस वक्त भी पैतरे बदलते रहे।

सहसा कलक्टर साहब ने डिप्टी इन्स्पेक्टर से पूछा—आपको आशा है कि वह अपने दिल की बातें कह देगा?

डिप्टी साहब ने कहा—जी हाँ उनसे मेरी घनिष्ठता है।

'आप मित्र बनकर उसका भेद लेना चाहते हैं। यह तो मुखबिरी है। मैं इसे कमीनापन समझता हूँ।'

डिप्टी साहब अप्रतिभ होकर हकलाते हुए बोले—मैं तो हजूर के हुक्म ... साहब ने बात काटी—नहीं, यह मेरा हुक्म नहीं है, मैं ऐसा हुक्म नहीं देना चाहता; अगर पुस्तक में लेखक का 'सिडीशन' साबित हो सके, तो खुली अदालत में मुकद्दमा चलाइये; नहीं, धमकी देकर छोड़ दीजिए। मुँह में राम, बगल में छुरी मुझे पसन्द नहीं।

जब यह वृत्तान्त डिप्टी इन्स्पेक्टर साहब ने कई दिन पीछे खुद मुझसे कहा, तब मैंने पूछा - क्या आप सचमुच मेरी मुखबिरी करते ?

वे हँसकर बोले—असम्भव। कोई लाख रुपए भी देता, तो न करता। मैं तो केवल अदालती कार्रवाई रोकना चाहता था और वह रुक गई। मुकदमा अदालत में जाता, तो सजा हो जाना यकीनी था। यहाँ आपकी पैरवी करने वाला भी कोई न मिलता; मगर साहब हैं शरीफ आदमी।

मैंने स्वीकार किया—बहुत ही शरीफ।

मैं हमीरपुर ही में था कि मुझे पेचिश की शिकायत पैदा हो गई। गर्मी के दिनों में देहात में कोई हरी तरकारी मिलती

न थी। एक बार कई दिन तक लगातार सूखी घुइयाँ खानी पड़ीं। यों मैं घुइयों को बिच्छू समझता हूँ और तब भी समझता था; लेकिन न जाने क्योंकर यह धारणा मन में हो गई कि अजवाइन से घुइयों का बादीपन जाता रहता है। खूब अजवाइन डलवाकर खा लिया करता। दस-बारह दिन तक किसी तरह का कष्ट न हुआ। मैंने समझा, शायद बुन्देलखण्ड की पहाड़ी जलवायु ने मेरी दुर्बल पाचन-शक्ति को तीव्र कर दिया; लेकिन एक दिन पेट में दर्द शुरू हुआ और सारे दिन मैं मछली की भाँति तड़पता रहा। फंकियाँ खाईं; मगर दर्द न कम हुआ। दूसरे दिन से पेचिश हो गई, मल के साथ आँव आने लगा; लेकिन दर्द जाता रहा।

एक महीना बीत चुका था। मैं एक कस्बे में पहुँचा, तो वहाँ के थानेदार साहब ने मुझसे थाने ही में ठहरने और भोजन करने का आग्रह किया। कई दिन से मूँग की दाल खाते और पथ्य करते-करते ऊब उठा था। सोचा क्या हरज है, आज यहीं ठहरो। भोजन तो स्वादिष्ट मिलेगा। थाने ही में अड्डा जमा दिया। दारोगाजी ने जमींकन्द का सालन पकवाया, पकौड़ियाँ, दही-बड़े, पुलाव। मैंने एहतियात से खाया—जमींकन्द तो मैंने केवल दो फांकें खाईं; लेकिन खा-पीकर जब थाने के सामने दारोगाजी के फूस के बँगले में लेटा तो दो-ढाई घंटे के बाद पेट में फिर दर्द होने लगा। सारी रात और अगले दिन

भर कराहता रहा। सोडे की दो बोतलें पीने के बाद कै हुई तो जाकर चैन मिला। मुझे विश्वास हो गया, यह जमींकन्द की कारस्तानी है। घुइयों से पहले ही मेरी छुट्टी हो चुकी थी। अब जमींकन्द से बैर हो गया। तब से इन दोनों चीजों की सूरत देखकर मैं काँप जाता हूँ। दर्द तो फिर जाता रहा; पर पेचिश ने अड्डा जमा लिया। पेट में चौबीसों घंटे तनाव बना रहता, अफरा हुआ रहता। संयम के साथ चार-पाँच मील टहलने जाता, व्यायाम करता, पथ्य से भोजन करता, कोई-न-कोई औषधि भी खाया करता; किन्तु पेचिश टलने का नाम न लेती थी, और देह भी घुलती जाती थी। कई बार कानपुर आकर दवा कराई। एक बार महीने-भर प्रयाग में डाक्टरी और आयुर्वेदिक औषधियों का सेवन किया; पर कोई फायदा नहीं।

तब मैंने अपना तबादला कराया। चाहता था रुहेलखण्ड; पर पटका गया बस्ती के जिले में और हलका वह मिला, जो नैपाल की तराई है। सौभाग्य से वहीं मेरा परिचय स्वर्गीय पं० मन्नन द्विवेदी गजीपुरी से हुआ जो डोमरियागंज में तहसीलदार थे। कभी उनके साथ साहित्य-चर्चा हो जाती थी; लेकिन यहाँ आकर पेचिश और बढ़ गई। तब मैंने छः महीने की छुट्टी ली, और के मेडिकल कालेज से निराश होकर काशी के

थोड़ा-सा फायदा तो मालूम हुआ; पर बीमारी जड़ से न गई। जब फिर बस्ती पहुँचा, तो वही हालत हो गई। तब मैंने दौरे की नौकरी छोड़ दी और बस्ती हाई स्कूल में स्कूल-मास्टर हो गया। फिर वहाँ से तबदील होकर गोरखपुर पहुँचा। पेचिश पूर्ववत् जारी रही। यहाँ मेरा परिचय महावीरप्रसादजी पोद्दार से हुआ, जो साहित्य के मर्मज्ञ, राष्ट्र के सच्चे सेवक और बड़े ही उद्योगी पुरुष हैं। मैंने बस्ती में ही 'सरस्वती' में कई गल्पें छपवाई थीं। पोद्दारजी की प्रेरणा से मैंने फिर उपन्यास लिखा और 'सेवा-सदन' की सृष्टि हुई। वहीं मैंने प्राइवेट बी० ए० भी पास किया। 'सेवा-सदन' का जो आदर हुआ, उससे उत्साहित हकोर मैंने 'प्रेमाश्रम' लिख डाला और गल्पें भी बराबर लिखता रहा।

कुछ मित्रों की, विशेषकर पोद्दारजी की सलाह से मैंने जल-चिकित्सा आरम्भ की; लेकिन तीन-चार महीने के स्नान और पथ्य का मेरे दुर्भाग्य से यह परिणाम हुआ कि मेरा पेट बढ़ गया और मुझे रास्ता चलने में भी दुर्बलता मालूम होने लगी। एक बार कई मित्रों के साथ मुझे एक जीने पर चढ़ने का अवसर पड़ा। और लोग धड़धड़ाते हुए चले गये; पर मेरे पाँव ही न उठते थे। बड़ी मुश्किल से हाथों का सहारा लेते हुये ऊपर पहुँचा। उसी दिन मुझे अपनी कमजोरी का यथार्थ ज्ञान हुआ। समझ गया अब थोड़े दिनों का मेहमान हूँ। जल-चिकित्सा बन्द कर दी

एक दिन बाजार में श्री दशरथप्रसादजी द्विवेदी, सम्पादक 'स्वदेश' से भेंट हुई। कभी-कभी उनसे भी साहित्य-चर्चा होती रहती थी। उन्होंने मेरी पीली सूरत देख कर खेद के साथ कहा—बाबूजी, आप तो बिलकुल पीले पड़ गये हैं, कोई इलाज कराइए।

मुझे अपनी बीमारी का जिक्र बुरा लगता था। मैं भूल जाना चाहता था कि मैं बीमार हूँ। जब दो-चार महीने ही का जिन्दगी का नाता है, तो क्यों न हँस कर मरूँ। मैंने चिढ़कर कहा—मर ही तो जाऊँगा भाई, या और कुछ। मैं मौत का स्वागत करने को तैयार हूँ। द्विवेदीजी बेचारे लज्जित हो गये। मुझे पीछे से अपनी उग्रता पर बड़ा खेद हुआ। यह १९२० की बात है। असहयोग-आन्दोलन जोरों पर था। जलियानवाला बाग का हत्याकाण्ड हो चुका था। उन्हीं दिनों महात्मा गान्धी ने गोरखपुर का दौरा किया। गाजीमियाँ के मैदान में ऊँचा प्लेट-फार्म तैयार किया गया। दो लाख से कम का जमाव न था। क्या शहर, क्या देहात, श्रद्धालु जनता दौड़ी चली आती थी। ऐसा समारोह मैंने अपने जीवन में कभी न देखा था। महात्माओं के दर्शनों का यह प्रताप था कि मुझ जैसा मरा हुआ आदमी भी चेत उठा। दो ही-चार दिन बाद मैंने अपनी २० साल की नौकरी से इस्तीफा दे दिया।

अब देहात में चलकर कुछ प्रचार करने की इच्छा हुई। पोद्दारजी का देहात में एक मकान था। हम और वह दोनों वहाँ चले गये और चर्खे बनवाने लगे। वहाँ जाने के एक ही सप्ताह बाद मेरी पेचिश कम होने लगी। यहाँ तक कि एक महीने के अन्दर मल के साथ आँव का आना बन्द हो गया। फिर मैं काशी चला आया और अपने देहात में बैठ कर कुछ प्रचार और कुछ साहित्य सेवा में जीवन को सार्थक करने लगा। गुलामी से मुक्त होते ही मैं ६ साल के जीर्ण रोग से मुक्त हो गया।

इन अनुभवों ने मुझे कट्टर भाग्यवादी बना दिया है। अब मेरा दृढ़ विश्वास है, कि भगवान् की जो इच्छा होती है, वही होता है और मनुष्य का उद्योग भी उसकी इच्छा के बिना सफल नहीं होता।

श्रीमती महादेवी वर्मा

[आधुनिक छायावादी कविता की श्रेष्ठतम कवियित्री श्रीमती महादेवी वर्मा ने गद्य में कतिपय जीवन-स्मृतियों का अत्यन्त सरस तथा कवित्व-पूर्ण शैली में सफल अंकन किया है। 'घीसा' एक ऐसी ही करुण स्मृति है।]
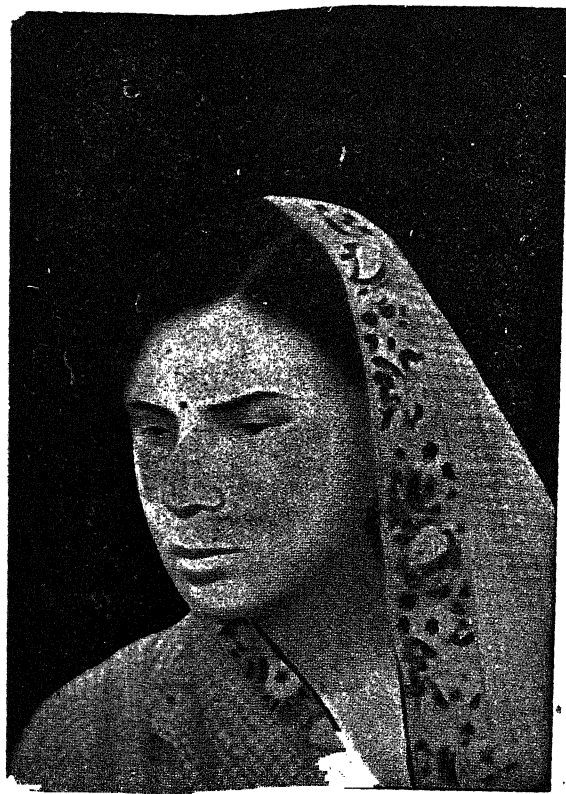
श्रीमती महादेवी वर्मा
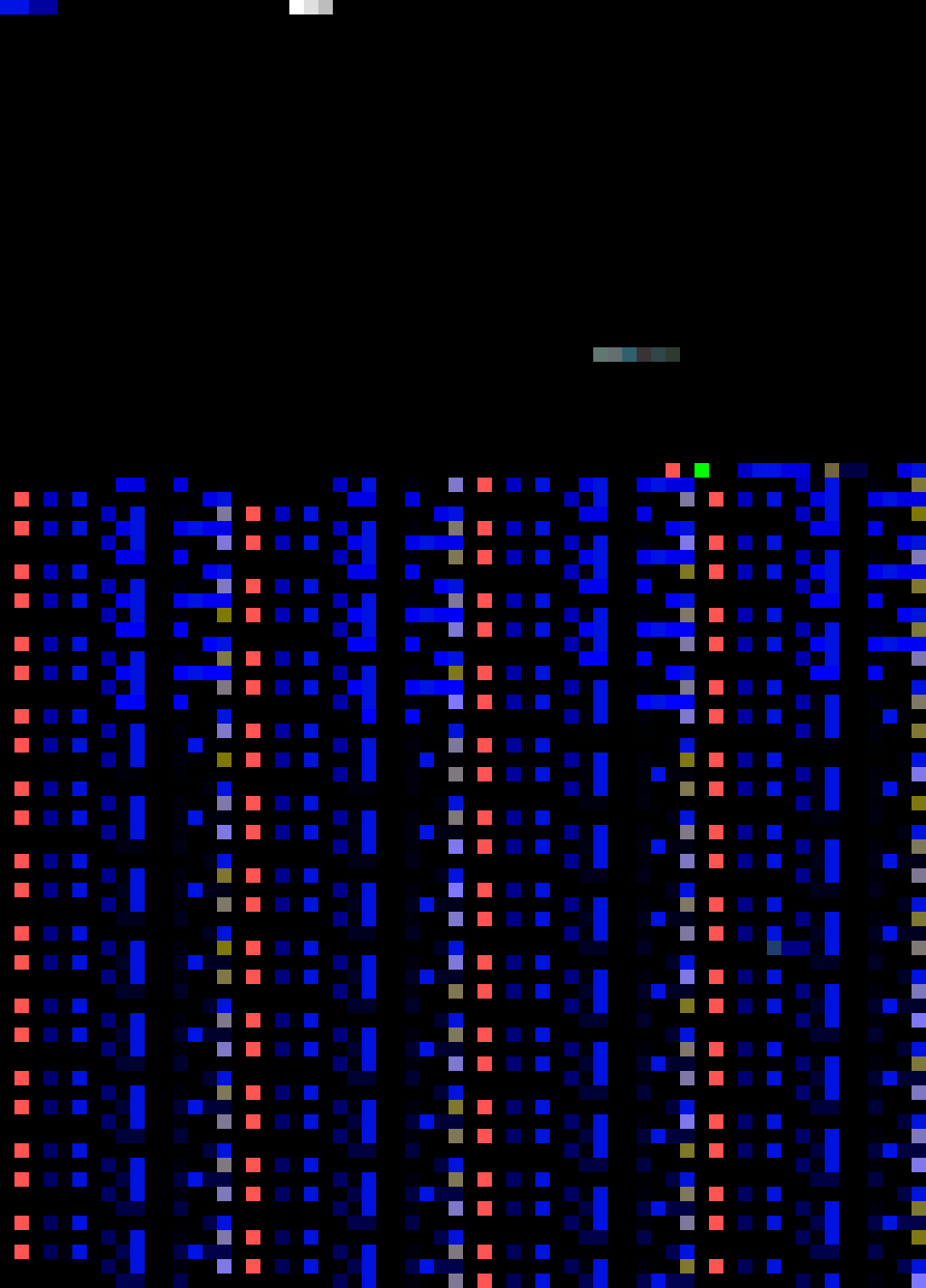
घीसा

वर्तमान की कौन-सी अज्ञात प्रेरणा हमारे अतीत की किसी भूली हुई कथा को सम्पूर्ण मार्मिकता के साथ दोहरा जाती है, यह जान लेना सहज होता तो मैं भी आज गाँव के उस मलिन सहमे नन्हें-से विद्यार्थी की सहसा याद आ जाने का कारण बता सकती, जो एक छोटी लहर के समान ही मेरे जीवन-तट को अपनी सारी आर्द्रता से छूकर अनन्त जल-राशि में विलीन हो गया है।

गंगा-पार झूँसी के खँडहर और उसके आस-पास के गाँवों के प्रति मेरा जैसा अकारण आकर्षण रहा है, उसे देखकर ही सम्भवतः लोग जन्म-जन्मान्तर के सम्बन्ध का व्यंग करने लगे हैं। है भी तो आश्चर्य की बात! जिस अवकाश के समय को लोग इष्टमित्रों से मिलने, उत्सवों में सम्मिलित होने तथा अन्य आमोद-प्रमोद के लिए सुरक्षित रखते हैं, उसी को मैं इस खँडहर और उसके क्षत-विक्षत चरणों पर पछाड़ें खाती हुई भागीरथी के तट पर काट ही नहीं, सुख से काट देती हूँ।

दूर पास बसे हुए, गुड़ियों के बड़े बड़े घरौंदों के समान लगने वाले, कुछ लिपे-पुते, कुछ जीर्ण-शीर्ण घरों से स्त्रियों का जो झुंड पीतल-ताँबे के चमचमाते, मिट्टी के नये लाल और पुराने बदरंग घड़े लेकर गंगा-जल भरने आता है, उसे भी मैं पहचान गई हूँ। उनमें कोई बूटेदार लाल, कोई निरी काली, कोई कुछ सफेद और कोई मैल और सूत में अद्वैत स्थापित करने वाली; कोई कुछ नई और कोई छेदों से चलनी बनी हुई धोती पहने रहती है। किसी की मोम लगी पाटियों के बीच में एक अंगुल चौड़ी सिंदूर-रेखा अस्त होते हुये सूर्य की किरणों से चमकती रहती है और किसी की कड़ुवे तेल से भी अपरिचित रूखी जटा बनी हुई छोटी-छोटी लटें मुख को घेरकर उसकी उदासी को और अधिक केन्द्रित कर देती हैं। किसी की साँवली गोल कलाई पर शहर की कच्ची नगदार चूड़ियों के नग रह-रहकर हीरे से चमक जाते हैं और किसी के दुर्बल काले पहुँचे पर लाख की पीली मैली चूड़ियाँ काले पत्थर पर मटमैले चन्दन की मोटी लकीरें जान पड़ती हैं। कोई अपने गिलट के कड़े-युक्त हाथ घड़े की ओट में छिपाने का प्रयत्न-सा करती रहती है और कोई चाँदी के पछेली-ककना की झनकार के ताल के साथ ही बात करती है। किसी के कान में लाख की पैसेवाली तरकी धोती से कभी-कभी झाँक-भर लेती है और किसी की ढारें लम्बी जंजीर से गला और गाल एक करती रहती हैं। किसी के गुदना गुदे गेहुँए पैरों में चाँदी के कड़े

सुडौलता की परिधि-सी लगाते हैं और किसी की फैली उँगलियों और सफेद एड़ियों के साथ मिली हुई स्याही राँगे और काँसे के कड़ों को लोहे की साफ की हुई बेड़ियाँ बना देती है।

वे सब पहले हाथ-मुँह धोती हैं, फिर पानी में कुछ घुस कर घड़ा भर लेती हैं—तब घड़ा किनारे रख सिर पर इँडुरी ठीक करती हुई मेरी ओर देखकर कभी मलीन, कभी उजली, कभी दुःख की व्यथा-भरी, कभी सुख की कथा भरी मुस्कान से मुस्करा देती हैं। अपने-मेरे बीच का अन्तर उन्हें ज्ञात है तभी कदाचित् वे इस मुस्कान के सेतु से उसका वार-पार जोड़ना नहीं भूलतीं।

ग्वालों के बालक अपनी चरती हुई गाय-भैंसों में से किसी को उस ओर बहकते देखकर ही लकुटी लेकर दौड़ पड़ते हैं, गड़रियों के बच्चे अपने झुंड की एक भी बकरी या भेड़ को उस ओर बढ़ते देखकर कान पकड़कर खींच ले जाते हैं और व्यर्थ दिन भर गिल्ली-डंडा खेलने वाले निठल्ले लड़के भी बीच-बीच में नजर बचाकर मेरा रुख देखना नहीं भूलते।

उस पार शहर में दूध-बेचने जाते या लौटते हुए ग्वाले, किले में काम करने जाते या घर आते हुए मजदूर, नाव बाँधते या खोलते हुए मल्लाह, कभी-कभी 'चुनरी तरंगाउब लाल मजीठी हो' गाते-गाते मुझ पर दृष्टि पड़ते ही अकचकाकर चुप

हो जाते हैं। कुछ विशेष सभ्य होने का गर्व करने वालों से मुझे एक सलज्ज नमस्कार भी प्राप्त हो जाता है।

कह नहीं सकती, कब और कैसे मुझे उन बालकों को कुछ सिखाने का ध्यान आया पर जब बिना कार्य्य-कारिणी के निर्वाचन के, बिना पदाधिकारियों के चुनाव के, बिना भवन के, बिना चंदे की अपील के और सारांश यह कि बिना किसी चिर-परिचित समारोह के मेरे विद्यार्थी पीपल के पेड़ की घनी छाया में मेरे चारों ओर एकत्र हो गये, तब मैं बड़ी कठिनाई से गुरु के उपयुक्त गम्भीरता का भार सहन कर सकी।

और वे जिज्ञासु कैसे थे, सो कैसे बताऊँ। कुछ कानों मे बालियाँ और हाथों में कड़े पहने धुले कुरते और ऊँची मैली धोती में नगर और ग्राम का सम्मिश्रण जान पड़ते थे। कुछ अपने बड़े भाई का, पाँव तक लम्बा कुरता पहने खेत में डराने के लिए खड़े किये हुए नकली आदमी का स्मरण दिलाते थे, कुछ उभरी पसलियों, बड़े पेट और टेढ़ी दुर्बल टाँगों के कारण अनुमान से ही मनुष्य-संतान की परिभाषा में आ सकते थे और कुछ अपने दुर्बल रूखे और मलिन मुखों की करुण सौम्यता और निष्प्रभ पीली आँखों में संसार-भर की उपेक्षा बटोरे बैठे थे। पर, घीसा उनमें अकेला ही रहा और आज भी मेरी स्मृति में अकेला ही आता है।

वह गोधूली मुझे अब तक नहीं भूली। सन्ध्या के लाल-सुन-

हली आभावाले उड़ते हुये दुकूल पर रात्रि ने मानों छिपकर अंजन की मूठ चला दी थी। मेरा नाववाला कुछ चिन्तित-सा लहरों की ओर देख रहा था। बूढ़ी भक्तिन मेरी किताबें, कागज-कलम आदि सम्भालकर नाव पर रख कर, बढ़ते अन्धकार पर खिजला कर बुदबुदा रही थी, या मुझे कुछ सनकी बनाने वाले विधाता पर, यह समझना कठिन था। बेचारी मेरे साथ रहते-रहते दस लम्बे वर्ष काट आई है, नौकरानी से अपने-आपको एक प्रकार की अभिभाविका मानने लगी है; परन्तु मेरी सनक का दुष्परिणाम सहने के अतिरिक्त उसे क्या मिला है ? सहसा ममता से मेरा मन भर आया; परन्तु नाव की ओर बढ़ते हुए मेरे पैर, फैलते हुये अन्धकार में से एक स्त्री-मूर्ति को अपनी ओर आता देख ठिठक रहे। साँवले कुछ लम्बे से मुखड़े में पतले स्याह ओठ कुछ अधिक स्पष्ट हो रहे थे। आँखें छोटी, पर व्यथा से आर्द्र थीं। मलिन बिना किनारी की गाढ़े की धोती ने उसके सलूका रहित अंगों को भली-भाँति ढक लिया था; परन्तु तब भी शरीर की सुडौलता का आभास मिल रहा था। कन्धे पर हाथ रख कर वह जिस दुर्बल अर्द्धनग्न बालक को अपने पैरों से चिपकाये हुए थी उसे मैंने सन्ध्या के झुरपुटे में ठीक से नहीं देखा।

स्त्री ने रुक-रुक कर कुछ शब्दों और कुछ संकेत में जो कहा, उससे मैं केवल यह समझ सकी कि उसके पति नहीं है। दूसरों

के घर लीपने-पोतने का काम करने वह चली जाती है और उसका यह अकेला लड़का ऐसे ही घूमता रहता है। मैं इसे भी और बच्चों के साथ बैठने दिया करूँ, तो यह कुछ सीख सके।

दूसरे इतवार को मैंने उसे सब से पीछे अकेले एक ओर दुबक कर बैठे हुये देखा। पक्का रंग, गठन में विशेष सुडौल, मलिन मुख, जिसमें दो पीली, पर सचेत आँखें जड़ी-सी जान पड़ती थीं। कस कर बन्द किये हुए पतले होठों की दृढ़ता और सिर पर खड़े हुए छोटे-छोटे रूखे बालों की उग्रता उसके मुख की संकोच-भरी कोमलता से विद्रोह कर रही थी। उभरी हड्डियों वाली गर्दन को सँभालते हुए झुके कन्धों से, रक्त-हीन मटमैली हथेलियों और टेढ़े-मेढ़े कटे हुए नाखूनों-युक्त हाथोंवाली पतली बाँहें ऐसे झूलती थीं, जैसे ड्रामा में विष्णु बननेवाले की दो नकली भुजाएँ। निरन्तर दौड़ते रहने के कारण उस लचीले शरीर में दुबले पैर ही विशेष पुष्ट जान पड़ते।—बस ऐसा ही था वह घीसा। न नाम में कवित्व की गुञ्जायश, न शरीर में।

पर उसकी सचेत आँखों में न जाने कौन सी जिज्ञासा भरी थी! वे निरन्तर घड़ी की तरह खुली मेरे मुख पर टिकी ही रहती थीं। मानो मेरी सारी विद्या-बुद्धि को सोख लेना ही उनका ध्येय था।

लड़के उससे कुछ खिंचे-खिंचे से रहते थे। इसलिए नहीं कि वह कोरी था। वरन् इसलिए कि किसी की माँ, किसी की

नानी, किसी की बुआ, आदि ने घीसा से दूर रहने की नितान्त आवश्यकता उन्हें कान पकड़-पकड़कर समझा दी थी।—यह भी उन्होंने बताया और बताया घीसा के सबसे अधिक कुरूप नाम का रहस्य। बाप तो जन्म से पहले ही नहीं रहा। घर में कोई देखने-भालने वाला न होने के कारण माँ उसे बँदरिया के बच्चे के समान चिपकाये फिरती थी। उसे एक ओर लिटाकर जब वह मजदूरी के काम में लग जाती थी, तब पेट के बल घसिट-घसिटकर बालक संसार के प्रथम अनुभव के साथ-साथ इस नाम की योग्यता भी प्राप्त करता जाता था।

फिर धीरे-धीरे अन्य स्त्रियाँ भी मुझे आते-जाते रोककर अनेक प्रकार की भावभंगिमाओं के साथ एक विचित्र सांकेतिक भाषा में घीसा की जन्म-जात अयोग्यता का परिचय देने लगीं। क्रमशः मैंने उसके नाम के अतिरिक्त और कुछ भी जाना।

उसका बाप था तो कोरी; पर बड़ा ही अभिमानी और भला आदमी बनने का इच्छुक। डलिया आदि बुनने का काम छोड़ कर वह थोड़ी बढ़ईगीरी सीख आया और केवल इतना ही नहीं, एक दिन चुपचाप दूसरे गाँव से युवती वधू लाकर उसने अपने गाँव की सब सजातीय सुन्दरी बालिकाओं को उपेक्षित और उनके योग्य माता-पिता को निराश कर डाला। मनुष्य इतना अन्याय सह सकता है; परन्तु ऐसे अवसर पर भगवान

की असहिष्णुता प्रसिद्ध ही है। इसी से जब गाँव के चौखट-किवाड़ बना कर और ठाकुरों के घरों में सफेदी करके उसने कुछ ठाट-बाट से रहना आरम्भ किया, तब अचानक हैजे के बहाने वह वहाँ बुला लिया गया, जहाँ न जाने का बहाना न उसकी बुद्धि सोच सकी, न अभिमान। पर स्त्री भी कम गर्वीली न निकली। गाँव के अनेक विधुर और अविवाहित कोरियों ने केवल उदारतावश ही उसकी जीवन-नैया पार लगाने का उत्तरदायित्व लेना चाहा; परन्तु उसने केवल कोरा उत्तर ही नहीं दिया, प्रत्युत उसे नमक-मिर्च लगाकर तीता भी कर दिया। कहा—'हम सिंघ के मेहरारू होइके का सियारन के जाब।' फिर बिना स्वर-ताल के आँसू गिराकर, बाल खोल कर, चूड़ियाँ फोड़कर और बिना किनारे की धोती पहन कर, जब उसने बड़े घर की विधवा का स्वाँग भरना आरम्भ किया, तब तो सारा समाज क्षोभ के समुद्र में डूबने-उतराने लगा। उस पर घीसा बाप के मरने के बाद हुआ है। हुआ तो वास्तव में छः महीने बाद; परन्तु उस समय के सम्बन्ध में क्या कहा जाय, जिसका कभी एक क्षण वर्ष सा बीतता और कभी एक वर्ष क्षण हो जाता है। इसी से यदि वह छः मास का समय रबर की तरह खिंच कर एक साल की अवधि तक पहुँच गया, तो इसमें गाँव वालों का क्या दोष!

यह कथा अनेक क्षेपकोमय विस्तार के साथ सुनाई ते

गई थी मेरा मन फेरने के लिए और मन फिरा भी; परन्तु किसी सनातन नियम से कथा-वाचकों की ओर न फिर कर कथा के नायकों की ओर और इस प्रकार घीसा मेरे और अधिक निकट आ गया। वह अपना जीवन-सम्बन्धी अपवाद कदाचित् पूरा नहीं समझ पाया था। परन्तु अधूरे का भी प्रभाव उस पर कम न था; क्योंकि वह सबको अपनी छाया से इस प्रकार बचाता रहता था मानो उसे कोई छूत की बीमारी हो।

पढ़ने, उसे सबसे पहले समझने, उसे व्यवहार के समय स्मरण रखने, पुस्तक में एक भी धब्बा न लगाने, स्लेट को चमचमाती रखने और अपने छोटे से छोटे काम का उत्तर-दायित्व बड़ी गम्भीरता से निभाने में उसके समान कोई चतुर न था। इसी से कभी-कभी मन चाहता था कि उसकी माँ से उसे माँग ले जाऊँ और अपने पास रख कर उसके विकास की उचित व्यवस्था कर दूँ। परन्तु उस उपेक्षिता पर मानिनी विधवा का वही एक सहारा था। वह अपने पति का स्थान छोड़ने पर प्रस्तुत न होगी यह भी मेरा मन जानता था और उस बालक के बिना उसका जीवन कितना दुर्वह हो सकता है, यह भी मुझसे छिपा न था। फिर नौ साल के कर्तव्य-परायण घीसा की गुरु-भक्ति देखकर उसकी मातृ-भक्ति के सम्बन्ध में कुछ सन्देह करने का स्थान ही नहीं रह जाता था,

और इस तरह घीसा वहीं और उन्हीं कठोर परिस्थितियों में रहा; जहाँ क्रूरतम नियति ने केवल अपने मनोविनोद के लिए ही उसे रख दिया था।

शनिवार के दिन ही वह अपने छोटे दुर्बल हाथों से पीपल की छाया को गोबर मिट्टी से पीला चिकनापन दे आता था। फिर इतवार को माँ के मजदूरी पर जाते ही एक मैले-फटे कपड़े में बँधी मोटी रोटी और कुछ नमक या थोड़ा चबेना और एक डेली गुड़ बगल में दबा कर पीपल की छाया को एक बार फिर झाड़ने बुहारने के पश्चात् वह गंगा के तट पर आ बैठता और अपनी पीली सतेज आँखों पर क्षीण साँवले हाथ की छाया कर दूर-दूर तक दृष्टि को दौड़ाता रहता। जैसे ही उसे मेरी नीली सफेद नाव की झलक दिखाई पड़ती, वैसे ही वह अपनी पतली टाँगों पर तीर के समान उड़ता और बिना नाम लिये हुए ही साथियों को सुनाने के लिये 'गुरु साहब, गुरु साहब' कहता हुआ फिर पेड़ के नीचे पहुँच जाता, जहाँ न जाने कितनी बार दुहराये-तिहराये हुए कार्य-क्रम की एक अन्तिम आवृत्ति आवश्यक हो उठती। पेड़ की नीची डाल पर रखी हुई मेरी शीतलपाटी उतार कर बार-बार झाड़-पोंछ कर बिछाई जाती, कभी काम न आने वाली सूखी स्याही से काली कच्चे काँच की दावात, टूटे निब और उखड़े हुए रंग वाले भूरे हरे कलम के साथ पेड़ के कोटर से निकाल कर

यथास्थान रख दी जाती और तब इस चित्र पाठशाला का विचित्र मन्त्री और निराला विद्यार्थी कुछ आगे बढ़ कर मेरे सम्रणास स्वागत के लिए प्रस्तुत हो जाता।

महीने में चार दिन ही मैं वहाँ पहुँच सकती थी और कभी-कभी काम की अधिकता से एक-आध छुट्टी का दिन और भी निकल जाता था; पर उस थोड़े से समय और इने-गिने दिनों में भी मुझे उस बालक के हृदय का जैसा परिचय मिला, वह चित्रों के एल्बम के समान निरन्तर नवीन-सा लगता है।

मुझे आज भी वह दिन नहीं भूलता, जब मैंने बिना कपड़ों का प्रबन्ध किये हुए ही उन बेचारों को सफाई का महत्त्व समझाते थका डालने की मूर्खता की! दूसरे इतवार को सब जैसे-के-तैसे ही सामने थे—केवल कुछ गंगाजी में मुँह इस तरह धो आये थे कि मैल अनेक रेखाओं में विभक्त हो गया था। कुछ ने हाथ-पाँव ऐसे घिसे थे कि शेष मलिन शरीर के साथ वे अलग जोड़े हुए से लगते थे और कुछ 'न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी' की कहावत चरितार्थ करने लिए कीट से मैले-फटे कुरते घर ही छोड़ कर ऐसे अस्थि-पंजर-मय रूप में आ उपस्थित हुए थे, जिसमें उनके प्राण, 'रहने का आश्चर्य है, गये अचम्भा कौन' की घोषणा करते जान पड़ते थे। पर घीसा गायब था। पूछने पर लड़के काना-फूँसी

करने या एक साथ सभी उसकी अनुपस्थिति का कारण सुनाने को आतुर होने लगे। एक-एक शब्द जोड़-तोड़ कर समझना पड़ा कि घीसा माँ से कपड़ा धोने के साबुन के लिए तभी से कह रहा था—माँ को मजदूरी के पैसे मिले नहीं और दूकानदार ने नाज लेकर साबुन दिया नहीं। कल रात को माँ को पैसे मिले और आज वह सब काम छोड़कर पहले साबुन लेने गई। अभी लौटी है, अतः घीसा कपड़े धो रहा है; क्योंकि गुरु साहब ने कहा था कि नहा-धोकर साफ कपड़ा पहन कर आना। और अभागे के पास कपड़े ही क्या थे। किसी दयावती का दिया हुआ एक पुराना कुरता, जिसकी एक आस्तीन आधी थी और एक अँगोछा-जैसा फटा टुकड़ा। जब घीसा नहाकर गीला अँगोछा लपेटे और आधा भीगा कुरता पहने अपराधी के समान मेरे सामने आ खड़ा हुआ; तब आँखें ही नहीं, मेरा रोम-रोम गीला हो गया। उस समय समझ में आया कि द्रोणाचार्य ने अपने भील शिष्य से अँगूठा कैसे कटवा लिया था।

एक दिन न जाने क्या सोचकर मैं उन विद्यार्थियों के लिए ५—६ सेर जलेबियाँ ले गई। पर कुछ तौलने वाले की सफाई से, कुछ तुलवानेवाली की समझदारी से और कुछ वहाँ की छीना-झपटी के कारण प्रत्येक को पाँच से अधिक न मिल सकीं। एक कहता था—मुझे एक कम मिली, दूसरे ने बताया

मेरी अमुक ने छीन ली तीसरे को घर में सोते हुए छोटे भाई के लिए चाहिए, चौथे को किसी और की याद आ गई। पर, इस कोलाहल में अपने हिस्से की जलेबियाँ लेकर घीसा कहाँ खिसक गया, यह कोई न जान सका। एक नटखट अपने साथी से कह रहा था—'सार एक ठो पिलवा पाले है ओही का देय बरे गा होई' पर मेरी दृष्टि से संकुचित होकर चुप रह गया। और तब तक घीसा लौटा ही। उसका सब हिसाब ठीक था—जलखईवाले छन्ने में दो जलेबियाँ लपेटकर वह भाई के लिए छप्पर में खोंस आया है; एक उसने अपने पाले हुए, बिना माँ के, कुत्ते के पिल्ले को खिला दी और दो स्वयं खाली। और चाहिए पूछने पर उसकी संकोच-भरी आँखें झुक गई—होंठ कुछ हिले। पता चला कि पिल्ले को उससे कम मिली हैं। दें तो गुरु साहब पिल्ले को ही एक और दे दें।

और होली के पहले की एक घटना तो मेरी स्मृति में ऐसे गहरे रंगों से अंकित है, जिसका धुल सकना सहज नहीं। उन दिनों हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य धीरे-धीरे बढ़ रहा था और किसी दिन उसके चरम-सीमा तक पहुँच जाने की पूर्ण सम्भावना थी। घीसा दो सप्ताह से ज्वर में पड़ा था—दवा मैं भिजवा देती थी; परन्तु देख-भाल का कोई ठीक प्रबन्ध न हो पाता था। दो-चार दिन उसकी माँ स्वयं बैठी रही, फिर एक अन्धी बुढ़िया को बैठाकर काम पर जाने लगी।

इतवार की साँझ को मैं यथाक्रम बच्चों को बिदा दे, घीसा को देखने चली; परन्तु पीपल से पचास पग दूर पहुँचते न पहुँचते उसी को डगमगाते पैरों से गिरते-पड़ते अपनी ओर आते देख मेरा मन उद्विग्न हो उठा। वह तो इधर पन्द्रह दिन से उठा ही नहीं था; अतः मुझे उसके सन्निपात-ग्रस्त होने का ही सन्देह हुआ। उसके सूखे शरीर में तरल विद्युत्-सी दौड़ रही थी, आँखें और भी सतेज और मुख ऐसा था जैसे हल्की आँच में धीरे-धीरे लाल होने वाला लोहे का टुकड़ा।

पर उसके वात-ग्रस्त होने से भी अधिक चिन्ता-जनक उसकी समझदारी की कहानी निकली। वह प्यास से जाग गया था; पर पानी पास मिला नहीं और अंधी मनिया की आजी से माँगना ठीक न समझ कर वह चुपचाप कष्ट सहने लगा। इतने में मुल्लू के कक्का ने पार से लौटकर दरवाजे से ही अंधी को बताया कि शहर में दंगा हो रहा है और तब उसे गुरु साहब का ध्यान आया। मुल्लू के कक्का के हटते ही वह ऐसे हौले-हौले उठा कि बुढ़िया को पता ही न चला और कभी दीवार कभी पेड़ का सहारा लेता-लेता इस ओर भागा। अब वह गुरु साहब के गोड़ धरकर यहीं पड़ा रहेगा; पर पार किसी तरह भी न जाने देगा।

तब मेरी समस्या और भी जटिल हो गई। पार तो मुझे पहुँचना था ही; पर साथ ही बीमार घीसा को ऐसे समझाकर, जिससे उसकी स्थिति और गम्भीर न हो जाय। पर सदा के

संकोची, नम्र और आज्ञाकारी घीसा का, इस हठ और हठी बालक में पता ही न चलता था। उसने पारसाल ऐसे ही अवसर पर हताहत दो मल्लाह देखे थे और कदाचित् इस समय उसका रोग से विकृत मस्तिष्क इन चित्रों में गहरा रंग भरकर मेरी उलझन को और उलझा रहा था। पर उसे सम-झाने का प्रयत्न करते-करते अचानक ही मैंने एक ऐसा तार छू दिया, जिसका स्वर मेरे लिए भी नया था। यह सुनते ही कि मेरे पास रेल में बैठकर दूर-दूर से आये हुये बहुत-से विद्यार्थी हैं, जो अपनी माँ के पास साल-भर में एक बार ही पहुँच पाते हैं और जो मेरे न जाने से अकेले घबरा जायँगे, घीसा का सारा हठ, सारा विरोध ऐसे बह गया, जैसे वह कभी था ही नहीं।—और तब घीसा के समान तर्क की क्षमता किसमें थी? जो साँझ को अपनी माई के पास नहीं जा सकते, उनके पास गुरु साहब को जाना ही चाहिए। घीसा रोकेगा, तो उसके भगवानजी गुस्सा हो जायँगे; क्योंकि वे ही तो घीसा को अकेला बेकार घूमता देखकर गुरु साहब को भेज देते हैं, आदि-आदि उसके तर्कों का स्मरण कर आज भी मन भर आता है। परन्तु उस दिन मुझे आपत्ति से बचाने के लिये अपने बुखार से जलते हुए अशक्त शरीर को घसीट लानेवाले घीसा को जब उसकी टूटी खटिया पर लिटाकर मैं लौटी, तब मेरे मन में कौतूहल की मात्रा ही अधिक थी।

इसके उपरान्त घीसा अच्छा हो गया और धूल और सूखी पत्तियों को बाँधकर उन्मत्त के समान घूमने वाली गर्मी की हवा से उसका रोज संग्राम छिड़ने लगा—झाड़ते-झाड़ते ही वह पाठशाला धूल-धूसरित होकर, भूरे, पीले और कुछ हरे पत्तों की चादर में छिपकर, तथा कंकाल-शेष शाखाओं में उलझते, सूखे पत्तों को पुकारते वायु की संतप्त सरसर से मुखरित होकर उस भ्रांत बालक को चिढ़ाने लगती। तब मैंने तीसरे पहर से सन्ध्या समय तक वहाँ रहने का निश्चय किया; परन्तु पता चला घीसा किसकिसाती आँखों को मलता और पुस्तक से बराबर धूल झाड़ता हुआ दिन भर वहीं पेड़ के नीचे बैठा रहता है, मानो वह किसी प्राचीन युग का तपोव्रती अनागारिक ब्रह्मचारी हो, जिसकी तपस्या भंग करने के लिए ही लू के झोंके आते हैं।

इस प्रकार चलते-चलते समय ने जब दाईं छूने के लिए दौड़ते हुए बालक के समान झपटकर उस दिन पर उँगली धर दी जब मुझे उन लोगों को छोड़ जाना था, तब तो मेरा मन बहुत ही अस्थिर हो उठा। कुछ बालक उदास थे और कुछ खेलने की छुट्टी से प्रसन्न। कुछ जानना चाहते थे कि छुट्टियों के दिन चूने की टिपकियाँ रखकर गिने जायँ, या कोयले की लकीरें खींचकर। कुछ के सामने बरसात में चूते हुए घर में आठ पृष्ठ की पुस्तक बचा रखने का प्रश्न था और कुछ कागजों

पर अकारण को ही चूहों की समस्या का समाधान चाहते थे; ऐसे महत्त्वपूर्ण कोलाहल में घीसा न जाने कैसे अपना रहना अनावश्यक समझ लेता था, अतः सदा के समान आज भी मैंने उसे न खोज पाया। जब मैं कुछ चिन्तित-सी वहाँ से चली, तब मन भारी-भारी हो रहा था, आँखों में कोहरा-सा घिर-घिर आता था। वास्तव में उन दिनों डाक्टरों को मेरे पेट में फोड़ा होने का सन्देह हो रहा था—ऑपरेशन की सम्भावना थी। कब लौटूँगी, या नहीं लौटूँगी, यही सोचते-सोचते मैंने फिर कर चारों ओर जो आर्द्रदृष्टि डाली, वह कुछ समय तक उन परिचित स्थानों को भेंट कर वहीं उलझ रही।

पृथ्वी के उच्छ्वास के समान उठते हुए धुँधलेपन में वे कच्चे घर आकण्ठ मग्न हो गये थे—केवल फूस से मटमैले और खपरैल के कत्थई और काले छप्पर, वर्षा में बढ़ी गंगा के मिट्टी-जैसे जल में पुरानी नावों के समान जान पड़ते थे। कछार की बालू में दूर तक फैले तरबूज और खरबूज के खेत अपने सिरकी और फूस के मुठियों, टट्टियों और रखवाली के लिए बनी पर्ण-कुटियों के कारण जल में बसे किसी आदिम द्वीप का स्मरण दिलाते थे। उनमें एक-दो दिये जल चुके थे, तब मैंने दूर पर एक छोटा-सा काला धब्बा आगे बढ़ता देखा। वह घीसा ही होगा, यह मैंने दूर से जान लिया। आज गुरु साहब को उसे विदा देना है, यह उसका नन्हा हृदय अपनी

पूरी संवेदन-शक्ति से जान रहा था, इसमें सन्देह नहीं था; परन्तु उस उपेक्षित बालक के मन में मेरे लिए कितनी सरल ममता और मेरे विछोह की कितनी गहरी व्यथा हो सकती है, यह जानना मेरे लिए शेष था।

निकट आने पर देखा कि उस धूमिल गोधूली में बादामी कागज पर काले चित्र के समान लगने वाला नंगे-बदन घीसा एक बड़ा तरबूज दोनों हाथों में सम्हाले था, जिसमें बीच के कुछ कटे भाग में से भीतर की ईषन्-लक्ष्य ललाई चारों ओर के गहरे हरेपन में कुछ खिले कुछ बन्द गुलाबी फूल जैसी जान पड़ती थी।

घीसा के पास न पैसा था न खेत—तब क्या वह इसे चुरा लाया है? मन का सन्देह बाहर आया ही और तब मैंने जाना कि जीवन का खरा सोना छिपाने के लिए उस मलीन शरीर को बनाने वाला ईश्वर उस बूढ़े आदमी से भिन्न नहीं, जो अपनी सोने की मोहर को कच्ची मिट्टी की दीवार में रखकर निश्चिन्त हो जाता है। घीसा गुरु साहब से झूठ बोलना भगवानजी से झूठ बोलना समझता है। वह तरबूज कई दिन पहले देख आया था, माई के लौटने में न जाने क्यों देर हो गई तब उसे अकेले ही खेत पर जाना पड़ा। वहाँ खेतवाले का लड़का था, जिसकी उसके नये कुरते पर बहुत दिन से नजर थी। प्राय सुना-सुनाकर कहता रहता था कि जिनकी भूख

जूठी पत्तल से बुझ सकती है, उनके लिये परोसा लगाने वाले पागल होते हैं। उसने कहा पैसा नहीं है, तो कुरता दे जाओ। और घीसा आज तरबूज न लेता, तो कल उसका क्या करता। इससे कुरता दे आया। पर गुरु साहब को चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं; क्योंकि गरमी में वह कुरता पहनता ही नहीं और आने-जाने के लिए पुराना ठीक रहेगा। तरबूज सफेद न हो; इसलिए कटवाना पड़ा—मीठा है या नहीं, यह देखने के लिए उँगली से कुछ निकाल भी लेना पड़ा।

गुरु साहब न लें तो घीसा रात भर रोयेगा—छुट्टी-भर रोयेगा, ले जावें तो वह रोज नहा-धोकर पेड़ के नीचे पढ़ा हुआ पाठ दोहराता रहेगा और छुट्टी के बाद पूरी किताब पट्टी पर लिख कर दिखा सकेगा।

और तब अपने स्नेह में प्रगल्भ उस बालक के सिर पर हाथ रख कर मैं भावातिरेक से ही निश्चल हो रही। उस तट पर किसी गुरु को किसी शिष्य से कभी ऐसी दक्षिणा मिली होगी, ऐसा मुझे विश्वास नहीं; परन्तु उस दक्षिणा के सामने संसार के अब तक के सारे आदान-प्रदान फीके जान पड़े।

फिर घीसा के सुख का विशेष प्रबन्ध कर मैं बाहर चली गई और लौटते-लौटते कई महीने लग गये। इस बीच में उसका कोई समाचार न मिलना ही सम्भव था। जब फिर उस ओर जाने का मुझे अवकाश मिल सका, तब घीसा के

उसके भगवानजी ने सदा के लिए पढ़ने से अवकाश दे दिया था—आज वह कहानी दोहराने की मुझमें शक्ति नहीं है; पर सम्भव है आज के कल, कल के कुछ दिन, दिनों के मास और मास के वर्ष बन जाने पर मैं दार्शनिक के समान धीर भाव से उस छोटे जीवन का उपेक्षित अन्त बता सकूँगी। अभी मेरे लिए इतना ही पर्याप्त है कि मैं अन्य मलिन मुखों में उसकी छाया ढूँढ़ती रहूँ।

पंडित श्रीराम शर्मा

[यशस्वी पत्रकार और 'शिकार-साहित्य' के प्रमुख लेखक पं० श्रीराम शर्मा का जीवन साहस और पराक्रम के कर्मों से ओत-प्रोत रहा है। ११ वर्ष की अल्पावस्था में उन्होंने किस प्रकार एक अत्यन्त भयंकर काले साँप से मोरचा लिया, उसकी वीरतापूर्ण कहानी उनकी 'स्मृति' में पढ़िए।]

स्मृति

सायंकाल को जब मैं अकेला जंगल से लौटता हूं, तो डूबते हुए सूर्य की किरणें पूर्व की ओर संकेत करती हुई मानो कहती हैं—शैशव काल में हमारी दृष्टि अपने वर्तमान स्थान की ओर थी, इधर आने को हम उतावली हो रही थीं, पर मध्याह्न के मद के उपरान्त अनुभव हुआ—और अब तो हम विलम्ब रही हैं—कि बाल्यकाल के माधुर्य की पुनः प्राप्ति असम्भव है। रायफलधारी! शीघ्र ही आयु ढलने पर तू भी हमारी भाँति बाल्यकाल के लिये विह्वल होकर आँसू बहायेगा। अच्छा हो, तू अभी से चेते।

मैंने इस चेतावनी को बहुत कुछ सार्थक पाया है। उससे वेदान्त का पाठ पढ़ा है। प्रातःकाल के समय मनुष्य की छाया—दैवी सिगनल, पश्चिम—अन्त—की ओर होती है। मानो वह कहती है कि अवसान पर दृष्टि डाल; पर बाल्यकाल में विरले ही उधर देखते हैं। कोई देखे भी कैसे और क्यों देखे? जीवन यात्रा के आरम्भ में चारों ओर, हृदय की अन्तरतम लहर और मन की उच्चतम उड़ान तक, सब्ज बाग ही दिखाई पड़ते हैं।

कु० आ० क०—

बरसात में उगे पौदे को आने वाले शीत और ग्रीष्म का कुछ पता नहीं होता। उद्गम के समीप से सरिता-जल को क्या मालूम कि आगे चलकर संसार की गिलाजत उसमें आकर मिलेगी, और स्वच्छता तथा गन्दगी में कितना संघर्ष होगा। पिल्लों को यह समझ थोड़े ही होती है कि बाल्यावस्था के समाप्त होते ही उनकी स्नेहमयी माँ रोटी के एक टुकड़े के लिए उन्हें काटने दौड़ेगी; न मृगशावक को इस बात का ज्ञान होगा कि उनके तनिक पीछे रह जाने पर रँभाने वाली उसकी माँ, कुछ बड़े होने पर, उसको पासवाली घास तक न चरने देगी। और न इस अशरफुल-मखलूकात को बाल्यकाल में इस बात का ज्ञान है कि आगे चलकर उसका जीवन इतना कष्टपूर्ण और दुखमय होगा। पर धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों जीवन-यात्रा बढ़ती जाती है, बाल्यकाल का आशा-रूपी ओसिस मरुभूमि में परिवर्तित होता जाता है। उसका आभास तो युवावस्था की उत्तुंग चोटी से होने लगता है। पर्वत-शिखर से जैसी घाटी की दोनों ओरें दिखाई पड़ती हैं—जैसे तराजू की मूँठ से दोनों पलड़ों के हल्के भारी होने को बताया जा सकता है—उसी प्रकार युवावस्था में अतीत का सिंहावलोकन और भविष्य की प्रगति का अनुमान किया जा सकता है। कोई न करे। मैं तो कर रहा हूँ। ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार होलिका-पूजन, होलिका-दहन और सायंकाल से पूर्व बनी दीप-बत्ती से दीपशिखा का अनुमान

किया जा सकता है। मेरी अब तक की जीवन-यात्रा में एक संकीर्ण तथा छोटी; पर अति मनोहर घाटी पड़ी है। इस घाटी का एक शिखर एक उच्च चोटी के समान इतनी दूर चले आने पर भी स्पष्ट दिखाई पड़ रहा है।

सन् १९०८ की बात है। दिसम्बर का आखीर या जनवरी का आरम्भ होगा। चिल्ला जाड़ा पड़ रहा था। दो-चार दिन पूर्व कुछ बूँदाबाँदी हो गई थी; इसलिए शीत की भयंकरता और भी बढ़ गई थी। सायंकाल के साढ़े तीन या चार बजे होंगे। कई साथियों के साथ में झरबेरी के बेर तोड़-तोड़ कर खा रहा था कि गाँव के पास से एक आदमी ने जोर से पुकारा कि तुम्हारे भाई बुला रहे हैं, शीघ्र ही घर लौट आओ। मैं घर को चलने लगा। साथ में छोटा भाई था। भाई साहब की मार का डर था; इसलिए सहमा हुआ चला जाता था। समझ में नहीं आता था कि कौन-सा कुसूर बन पड़ा। पढ़ने में कभी पिटता न था; पर पीटनेवाले पीटने के लिए सैकड़ों बहाने निकाल लेते हैं। दोषी ठहराने के लिए भेड़िए ने धार के नीचे की ओर खड़े हुए मेमने पर पानी गंदला करने का अभियोग लगाया था। डरते-डरते घर में घुसा। आशंका थी कि बेर खाने के अपराध में ही तो पेशी न हो। आँगन में भाई साहब को पत्र लिखते पाया। अब पिटने का भ्रम दूर हुआ। हमें देखकर भाई साहब ने कहा—इन पत्रों को ले

जाकर मक्खनपुर डाकखाने में डाल आओ। तेजी से जाना, जिससे शाम की डाक में ही चिट्ठियाँ निकल जायँ। ये बड़ी जरूरी हैं।

जाड़े के दिन तो थे ही तिस पर हवा के प्रकोप से कँप-कँपी लग रही थी। हवा मज्जा तक को ठिठुरा रही थी; इसलिए हमने कानों को धोती से बाँधा। लू और शीत से बचने के लिए कान बाँधे जाते हैं। दुर्ग की रक्षा के लिए चहारदीवारी की रक्षा की जाती है, ताकि उसमें शत्रु का प्रवेश न हो सके। माँ ने भुँजाने के लिए थोड़े से चने एक धोती में बाँध दिये। हम दोनों भाई अपना-अपना डंडा लेकर घर से निकल पड़े। उस समय उस बबूल के डंडे से जितना मोह था, उतना इस उमर में रायफल से नहीं। प्रत्येक आर्यसमाजी को उस अस्त्र से सुसज्जित देखा था। डंडे को मैं उनके पेशे का चिह्न समझता था। उस कच्ची उमर में अनेक उपदेशक देखे थे। उनके कल्पित चिह्न का प्रभाव क्यों न पड़ता। फिर मेरा डंडा तो अनेक साँपों के लिए नारायण-वाहन हो चुका था। मक्खनपुर स्कूल और गाँव के बीच पड़नेवाले आम के पेड़ों से प्रतिवर्ष उससे आम झूरे जाते थे। इस कारण वह मूक डंडा सजीव-सा प्रतीत होता था। प्रसन्नवदन हम दोनों मक्खनपुर की ओर तेजी से बढ़ने लगे। चिट्ठियों को मैंने टोपी में रख लिया क्योंकि कुर्ते मे जेबें न थीं।

हम दोनों उछलते-कूदते, एक ही साँस में, गाँव से चार फर्लांग दूर उस कुएँ के पास आ गये, जिसमें एक अति भयंकर काला साँप पड़ा हुआ था। कुआँ कच्चा था, और चौबीस हाथ (३६ फीट) गहरा था। उसमें पानी न था। चुआकर छोड़ दिया गया था; ताकि अवकाश के समय तार करके उसमें पानी किया जावे। उसमें न जाने साँप कैसे गिर गया था? सम्भव है, मेंढक का पीछा करते तेजी से उधर आ रहा होगा और कुएँ के पास आकर, मेंढक के गिरने पर, वह अपनी गति को न रोक सका हो। अथवा प्रणय-केलि में नकुल आतंक से सुध बुध भूलकर, गिरकर, कूपवासी हुआ होगा। अस्तु कारण कुछ भी हो, हमारा उसके कुएँ में होने का ज्ञान केवल दो महीने का था। बच्चे नटखट होते ही हैं। उनका नटखट होना आवश्यक है, क्योंकि नटखटपन एक शक्ति है, जो प्रत्येक बालक में होनी चाहिए। मक्खनपुर पढ़ने जाने वाली हमारी टोली पूरी वानर-टोली थी। एक दिन हम लोग स्कूल से लौट रहे थे, कि हमको कुएँ में उझकने की सूझी। सबसे पहले उझकने वाला मैं ही था। कुएँ में झाँककर एक ढेला फेंका कि उसकी आवाज कैसी होती है। उसके सुनने के बाद अपनी बोली की प्रतिध्वनि सुनने की इच्छा थी; पर कुएँ में ज्यों ही ढेला गिरा, त्यों ही एक फुसकार सुनाई पड़ी। कुएँ के किनारे खड़े हुये हम सब बालक पहले तो उस फुसकार से ऐसे चकित हो गये, मानो किलोलें

करता हुआ मृग-समूह अति समीप के कुत्ते की भोंक से चकित हो जाता है। उसके उपरान्त सभी ने उभक-उभककर एक-एक ढेला फेंका, और कुएँ से आनेवाली क्रोध-पूर्ण फुसकार पर कहकहे लगाये। साँप की फुसकार हमारे लिये आमोद-प्रमोद की सामग्री थी, और ऐसी सामग्री थी, जिससे हम बहुत दिनों तक आनन्द ले सकते थे। उस अवस्था में यह खयाल थोड़े ही था कि बेचारे साँप के भी जान होती है और ढेला लगने से उसे भी कष्ट होता है; हमें तो उसकी फुसकार से मतलब था। यदि वह विरोध-स्वरूप फुसकार न मारता, तो हमारी बालक्रीड़ा का भी अन्त हो जाता। हमारा तमाशा था और उसे जान के लाले पड़े थे। गाँव से मक्खनपुर जाते और मक्खनपुर से लौटते समय प्रातः प्रतिदिन ही कुएँ में ढेले डाले जाते थे। मैं तो आगे भागकर आ जाता था और टोपी को एक हाथ से पकड़ कर दूसरे हाथ से ढेला फेंकता था। यह रोजाना की आदत हो गई थी। साँप से फुसकार करवा लेना, मैं उस समय बड़ा काम समझता था। कुएँ की कैद में इतने दिनों पड़े रहने से साँप भी कुछ अपने जीवन से अभ्यस्त हो गया था, और बिना ढेला लगे वह बाद में फुसकार भी नहीं मारता था। ढेला कुएँ में गिरा कि फन फैलाकर खड़ा हो जाता और ढेलों की उपेक्षा किया करता। तनिक से ढेला लगते ही वह फुसकार से अपना क्रोध प्रकट करता और कुएँ में इधर-उधर घूमा करता

पर उस कारागार से मुक्ति मिलना कठिन था। उस कारागार में वह पड़ा रहता और अपनी उस मूर्खता पर, जिसके कारण वह कुएँ में गिरा था, पछताया करता। यदि साँपों में पछताने की शक्ति होती है तो अपमान को सहना अथवा अपमान का उत्तर न देना या मन मसोसकर रह जाना मनुष्य-योनि को छोड़ और किसी योनि का धर्म नहीं है। भय होने पर कीड़े-मकोड़े और हिरन तक भाग जाते हैं और भागकर जान बचाना ही उनका धर्म है। घायल होने पर या पकड़े जाने पर आजादी के लिए भरसक प्रयत्न करेंगे। दाँत, सींग, डंक और पैरों का उपयोग करेंगे। अकल के पुतले की भाँति पिट-कुटकर अथवा अपमानित होकर महीनों बाद दफा ५०१ में अदालत की ओर भागने की उनकी बान नहीं। उनके अदालत है ही नहीं। प्राकृतिक शासन है, जिसमें विशेष नियंत्रण नहीं है। फिर वह साँप चोट खाने पर प्रतिवाद-स्वरूप फुसकार क्यों न मारता—आजादी के लिए क्यों न तड़पता। मानो वह फुसकार की तड़पन न थी; वरन कैदी का उच्छ्वास था जो प्रकट कर रहा था कि :—

यों तो ऐ सैयाद, आजादी के हैं लाखों मजे।
दाम के नीचे तड़पने का मजा कुछ और है॥

पर उस समय—ग्यारह वर्ष की अवस्था में—वेदनापूर्ण फुसकार में मैं उपदेश न पाता था। यह तो अब की बात है

इसलिये, जैसे ही हम दोनों उस कुएँ की ओर से निकले, तो कुएँ में ढेला फेंककर फुंकार सुनने की प्रवृत्ति जागरित हो गई। मैं कुएँ की ओर बढ़ा। छोटा भाई मेरे पीछे ऐसे हो लिया, जैसे बड़े मृगशावक के पीछे छोटा मृगशावक हो लेता है। कुएँ के किनारे से एक ढेला उठाया और उझककर एक हाथ से टोपी उतारते हुये साँप पर गिरा दिया; पर मुझ पर तो बिजली-सी गिर पड़ी। साँप ने फुंकार मारा या नहीं—ढेला उसके लगा या नहीं, यह बात अब तक स्मरण नहीं। टोपी के हाथ में लेते ही तीनों चिट्ठियाँ चक्कर काटती हुई कुएँ में गिर रही थीं। अकस्मात् जैसे घास चरते हुए हिरन की आत्मा गोली से हत होने पर निकल जाती है और वह तड़पता रह जाता है, उसी भाँति वे चिट्ठियाँ टोपी से क्या निकल गईं मेरी तो जान निकल गई। उनके गिरते ही मैंने उनके पकड़ने के लिए एक झपट्टा भी मारा; ठीक वैसे, जैसे घायल शेर शिकारी को पेड़ पर चढ़ते देख उस पर हमला करता है। पर वे तो पहुँच से बाहर हो चुकी थीं। उनके पकड़ने की घबराहट में मैं स्वयं झटके के कारण कुएँ में गिर गया होता।

कुएँ की पार पर बैठे हम रो रहे थे—छोटा भाई ढाढ़े मारकर और मैं चुपचाप आँखें डबडबाकर। पतीली में उफान आने से ढकना ऊपर उठ जाता है और पानी बाहर टपक

जाता है। निराशा, पिटने का भय, और उद्वेग से रोने का उफान आता था। पलकों के ढकने भीतरी भावों को रोकने का प्रयत्न करते थे; पर कपोलों पर आँसू ढलक ही जाते थे। माँ की गोद की याद आती थी। जी चाहता था कि माँ आकर छाती से लगा ले और लाड़-प्यार करके कह दे कि कोई बात नहीं, चिट्ठियाँ फिर लिख ली जायँगी। तबियत करती थी कि कुएँ में बहुत-सी मिट्टी डाल दी जाये और घर जाकर कह दिया जाय कि चिट्ठी डाल आये; पर उस समय झूठ बोलना मैं जानता ही न था। घर लौटकर सच बोलने से रुई की भाँति धुनाई होती। मार के खयाल से शरीर ही नहीं, मन काँप जाता था। अकारण अथवा कसूर पर भी पिटने से हृदय की कोमल कली मुरझा जाती है। मानसिक और शारीरिक विकास रुक जाता है। सच बोलकर पिटने के भावी भय, और झूठ बोलकर चिट्ठियों के न पहुँचने की जिम्मेदारी के बोझ से दबा, मैं बैठा सिसक रहा था। पास ही रास्ते पर एक स्त्री अपने बालक का हाथ पकड़े जा रही थी। उसे देखकर तो करुणा-सागर ही उमड़ आया। हृदय के उफान ने पलकों के ढकने को हटा दिया। फाटक खुल गये। अश्रुधारा बह चली। इसी सोच-विचार में पन्द्रह मिनट होने आये। देर हो रही थी, और उधर दिन का बुढ़ापा बढ़ता जाता था। कहीं भाग जाने को तबियत करती थी; पर पिटने के

भय और जिम्मेदारी की दुधारी तलवार कलेजे पर फिर रही थी।

असंप्रज्ञात समाधि से माया के बन्धन टूट जाते हैं। दृढ़ संकल्प से दुविधा की बेड़ियाँ कट जाती हैं। मेरी दुविधा भी दूर हो गई। कुएँ में घुसकर चिट्ठियों को निकालने का निश्चय किया। कितना भयंकर निर्णय था! पर जो मरने को तैयार हो, उसे क्या? मूर्खता अथवा बुद्धिमत्ता से किसी काम के करने के लिये कोई मौत का मार्ग ही स्वीकार कर ले, और वह भी जान-बूझ कर, तो फिर वह अकेला संसार से भिड़ने को तैयार हो जाता है। और फल? उसे फल की क्या चिन्ता! फल तो किसी दूसरी शक्ति पर ही निर्भर है। शुभ घड़ी और शुभ मुहूर्त के अनेक कामों का दुखद फल होता है। शुभ घड़ी और शुभ मुहूर्त बुरे नहीं हैं; पर उनमें किया हुआ फल अपने वश की बात नहीं। मुझे अपने निर्णयकाल की घड़ी और मुहूर्त का पता नहीं; पर मेरा निर्णय, मेरी अब की दृष्टि से अति भयंकर था। उस समय चिट्ठियाँ निकालने के लिए मैं विषधर से भिड़ने को तैयार हो गया! पाँसा फेंक दिया था। मौत का आलिंगन हो अथवा साँप से बचकर दूसरा जन्म—इसकी कोई चिन्ता न थी; पर विश्वास यह था कि डंडे से साँप को पहले मार दूँगा, तब फिर चिट्ठियाँ उठा लूँगा। बस इसी दृढ़ विश्वास के बूते पर मैंने कुएँ में घुसने की ठानी।

छोटा भाई रोता था और उसके रोने का तात्पर्य था कि मेरी मौत मुझे नीचे बुला रही है. यद्यपि वह शब्दों से न कहता था। वास्तव में मौत सजीव और नग्न रूप से कुएं में बैठी थी: पर उस नग्न मौत से मुठभेड़ के लिए मुझे भी नग्न होना पड़ा। छोटा भाई भी नंगा हुआ। एक धोती मेरी, एक छोटे भाई की, एक चने वाली, दो कानों से बँधी हुई धोतियाँ और कुछ रस्सी मिलाकर कुएँ की गहराई के लिए काफी हुईं। हम लोगों ने धोतियाँ एक दूसरे से बाँधी और खूब खींच-खींचकर आजमा लीं कि गाँठें कड़ी हैं या नहीं। अपनी ओर से कोई धोखे का काम न रक्खा। धोती के एक सिरे पर डंडा बाँधा और उसे कुएँ में डाल दिया। दूसरे सिरे को डेंग (वह लकड़ी जिस पर चरसपुर टिकता है) के चारों ओर एक चक्कर देकर और एक गाँठ लगाकर छोटे भाई को दे दिया। छोटा भाई केवल आठ वर्ष का था, इसलिये धोती को डेंग से कड़ी करके बाँध दिया और तब उसे खूब मजबूती से पकड़ने के लिए कहा। मैं कुएँ में धोती के सहारे घुसने लगा। छोटा भाई फिर रोने लगा। मैंने उसे आश्वासन दिलाया कि मैं कुएँ के नीचे पहुँचते ही साँप को मार दूँगा, और मेरा विश्वास भी ऐसा ही था। कारण यह था कि उससे पहले मैंने अनेक साँप मारे थे। दो-एक को तो जूते कंकर-पत्थर से मारा था। मैं यह बात उस समय ही जानता था कि साँप को अपने दाईं ओर से होकर

मारना चाहिए, और उसको मारने के लिये सबसे अच्छी लकड़ी अरहर की लग—सांट—है। यदि वह साँप के एक भी कहीं—पूँछ को छोड़कर—लग जाय, तो वह वहीं-का-वहीं रह जाता है। उसकी हड्डियों की बनावट ऐसी होती है कि बेंत या सांटे के लगते ही उसकी हड्डी बेकार-सी हो जाती है, और वह वहीं बिलबिलाने लगता है तब तक दूसरी चोट का अवसर मिलता है। भागते काले साँपों को मैंने इसी प्रकार कई बार मारा था। दो-एक बार काटने से भी बचा था; इसी लिए कुएँ में घुसते समय मुझे साँप का तनिक भी भय न था। उसको मारना मैं बायें हाथ का खेल समझता था। ऐसा न होता, तो शायद मैं कुएँ में घुसने का साहस न करता। हृदय का तूफान तो पहले ही शान्त हो गया था। जो अश्रुधारा बहाई थी, वह अपनी असमर्थता पर कि कुएँ से चिट्ठियाँ कैसे निकाली जायँ; पर जब धोती के साधन की सूझ हुई, तब तो सन्तोष और प्रसन्नता की सीमा में पहुँच गया। इस समय भी मेरा कद मझोला है, उस समय तो निरा बालक था। धोती के सहारे उतरते समय जोर भुजाओं पर ही अधिक था; क्योंकि पैरों की पकड़ में धोती आती न थी। जैसे-जैसे नीचे उतरता जाता था, हृदय की धड़कन बढ़ती जाती थी कि कहीं साँप न मरा, तो चिट्ठियाँ कैसे उठाऊँगा। कुएँ के धरातल से जब चार-पाँच गज रहा हूँगा, तब ध्यान से नीचे की ओर देखा। अकल चकरा

गई। साँप फन फैलाये धरातल से एक हाथ ऊपर उठा हुआ लहरा रहा था। पूँछ और पूँछ के समीप का भाग पृथ्वी पर था, आधा अग्रभाग ऊपर उठा हुआ मेरी प्रतीक्षा कर रहा था। नीचे जो डंडा बँधा था, मेरे उतरने की गति से इधर-उधर हिलता था। उसी के कारण, शायद मुझे उतरते देख, साँप घातक चोट के आसन पर बैठा था। सपेरा जैसे बीन बजाकर काले साँप को खेलाता है और साँप क्रोधित हो फन फैलाकर खड़ा होता तथा फुंकार मारकर चोट करता है, ठीक उसी प्रकार साँप तैयार था। उसका प्रतिद्वंद्वी—मैं—उससे कुछ हाथ ऊपर धोती पकड़े लटक रहा था। धोती डंडे से बँधी होने के कारण कुएँ के बीचोबीच लटक रही थी, और मुझे कुएँ के धरातल की परिधि के बीचोबीच ही उतरना था। इसके माने थे साँप से डेढ़-दो-फीट—गज नहीं—की दूरी पर पैर रखना और इतनी दूरी पर साँप पैर रखते ही चोट करता। स्मरण रहे, कच्चे कुएँ का व्यास बहुत कम होता है। नीचे तो वह डेढ़ गज से अधिक होता ही नहीं। ऐसी दशा में कुएँ में मैं साँप से अधिक-से-अधिक चार फीट की दूरी पर रह सकता था, वह भी उस दशा में, जब साँप मुझसे दूर रहने का प्रयत्न करता; पर उतरना तो था कुएँ के बीच में, क्योंकि मेरा साधन बीचोबीच लटक रहा था। ऊपर से लटककर तो साँप नहीं मारा जा सकता था। उतरना तो था ही। थकावट से ऊपर

चढ़ भी नहीं सकता था। अब तक अपने प्रतिद्वंद्वी को पीठ दिखाने का निश्चय नहीं किया था। यदि ऐसा करता भी, तो कुएँ के धरातल पर उतरे बिना क्या मैं ऊपर चढ़ सकता था? धीरे-धीरे उतरने लगा। एक-एक इञ्च ज्यों-ज्यों मैं नीचे उतरता जाता था, त्यों-त्यों मेरी एकाग्रचित्तता बढ़ती जाती थी। एकाग्रचित्तता में—चित्तवृत्ति-निरोध में—जो विचार सूझते हैं, वे व्यग्रचित्त में नहीं। टूटे हीरे का वह मूल्य नहीं होता, जो सम्पूर्ण हीरे का। मुझे एक सूझ सूझी। दोनों हाथों से धोती पकड़े हुए मैंने अपने पैर कुएँ की बगल से लगा दिये। दीवार से पैर लगाते ही कुछ मिट्टी नीचे गिरी और साँप ने फूँ करके उस पर मुँह मारा। मेरे पैर भी दीवार से हट गये, और मेरी टाँगें कमर से समकोण बनाती हुई लटकती रहीं; पर इससे साँप से दूरी और कुएँ की परिधि पर उतरने का ढंग मालूम हो गया। तनिक झूलकर मैंने अपने पैर कुएँ की बगल से सटाये, और कुछ धक्के के साथ अपने प्रतिद्वंद्वी के सम्मुख कुएँ की दूसरी ओर डेढ़ गज पर—कुएँ के धरातल पर खड़ा हो गया। आँखें चार हुईं। शायद एक दूसरे ने पहचाना। साँप को चक्षुश्रवा कहते हैं। मैं स्वयं चक्षुश्रवा हो रहा था अन्य इन्द्रियों ने मानो सहानुभूति से अपनी शक्ति आँखों को दे दी हो। शरीर में सहानुभूति से पीड़ा होती है। पैर में चोट लग जाने से गिल्टी उठ आती है। फिर इंद्रियों का इंद्रियविशे

का सहायक होना, कोई आश्चर्य नहीं। मैं तो यही महसूस करता हूँ। साँप के फन की ओर मेरी आँखें लगी हुई थीं कि वह कब किस ओर को आक्रमण करता है। साँप ने मोहनी-सी डाल दी थी। शायद वह मेरे आक्रमण की प्रतीक्षा में था; पर जिस विचार और आशा को लेकर मैंने कुएँ में घुसने की ठानी थी, वह तो आकाश-कुसुम था। मनुष्य का अनुमान और भावी योजनाएँ कभी-कभी कितनी मिथ्या और उल्टी निकलती हैं। अनुमानित सफलता की आशा-रज्जु से बँधा यह मानवी पुतला न मालूम क्या नहीं करता और कहाँ नहीं जाता। इस आशा-रज्जु के टूटते ही वह पुतला मांस का एक लोथड़ा ही रह जाता है। उसके बिना जीवन का आनन्द ही नहीं। मुझे साँप का साक्षात् होते ही अपनी योजना और आशा की असम्भवता प्रतीत हो गई। डंडा चलाने के लिए स्थान ही न था। लाठी व डंडा चलाने के लिये काफी स्थान चाहिये, जिसमें वे घुमाये जा सकें। सांप को डंडे से दबाया जा सकता था; पर ऐसा करना मानो तोप के मुहरे पर खड़ा होना था। यदि फन या उसके समीप का भाग न दबा, तो फिर वह पलटकर जरूर काटता, और फन के पास दबाने की कोई सम्भावना भी होती, तो फिर उसके पास पड़ी हुई दो चिट्ठियों को कैसे उठाता। दो चिट्ठियाँ उसके पास उससे सटी हुई पड़ी थीं और एक मेरी ओर थी। मैं तो चिट्ठियाँ लेने ही उतरा था। हम

दोनों अपने पैतरे पर डटे थे। उस आसन पर खड़े-खड़े मुझे चार-पाँच मिनट हो गये। दोनों ओर से मोरचे पड़े हुए थे; पर मेरा मोरचा कमजोर था। कहीं साँप मुझ पर झपट पड़ता, तो मैं—यदि बहुत करता तो—उसे पकड़ कर, कुचल कर, मार देता; पर वह तो अचूक तरल विष मेरे शरीर में पहुँचा ही देता और अपने साथ-साथ मुझे भी ले जाता। अब तक सांप ने वार न किया था; इसलिये मैंने भी उसे डंडे से दबाने का विचार छोड़ दिया। ऐसा करना उचित भी न था। अब प्रश्न था कि चिट्ठियाँ कैसे उठाई जायँ। बस, एक सूरत थी डंडे से साँप के मुँह की ओर की चिट्ठियों को सरकाया जाय। यदि साँप टूट पड़ा, तो कोई चारा न था। कुर्ता था, और कोई कपड़ा भी न था जिसे साँप के मुँह की ओर करके उसके फन को पकड़ लूँ। मारना या बिलकुल छेड़खानी न करना ये दो मार्ग थे। सो पहला मेरी शक्ति के बाहर था। बाध्य होकर दूसरे मार्ग का अवलम्बन करना पड़ा।

डंडे को लेकर ज्यों ही मैंने साँप की दाईं ओर पड़ी हुई चिट्ठी की ओर उसे बढ़ाया कि साँप का फन पीछे को हुआ। धीरे-धीरे डंडा चिट्ठी की ओर बढ़ा और ज्यों ही चिट्ठी के पास पहुँचा कि फूँकों के साथ काली बिजली तड़पी और डंडे पर गिरी। हृदय में कम्प हुआ, और हाथों ने आज्ञा न मानी। डंडा छूट पड़ा। मैं तो न मालूम कितना ऊपर उछला

गया। जान-बूझकर नहीं, यों ही बिदककर। उछल कर जो खड़ा हुआ, तो देखा, डंडे के सिर पर तीन चार स्थानों पर पीव-सा कुछ लगा हुआ है। वह विष था। साँप ने मानों अपनी शक्ति का सार्टीफिकेट सामने रख दिया था; पर मैं तो उसकी योग्यता का पहले ही से कायल था। उस सार्टीफिकेट की जरूरत न थी। साँप ने लगातार फूँ-फूँ करके डंडे पर तीन चार चोटें की। वह डंडा पहली बार ही इस भाँति अपमानित हुआ था, या वह साँप का उपहास कर रहा था।

उधर ऊपर फूँ-फूँ, और मेरे उछलने और फिर वहीं धमाके से खड़े होने से, छोटे भाई ने समझा कि मेरा कार्य समाप्त हो गया और बन्धुत्व का नाता फूँ-फूँ और धमाके से टूट गया। उसने खयाल किया कि साँप के काटने से मैं गिर गया। मेरे कष्ट और विरह के ख्याल से उसके कोमल हृदय को धक्का लगा। भ्रातृ स्नेह के ताने-बाने को चोट लगी। उसकी चीख निकल गई। सिनेमा में करुणापूर्ण दृश्य देखकर मैं इस आयु में भी रो पड़ता हूँ। विरह-वर्णन से मेरी आँखें अब भी सजल हो जाती हैं। शफाखाने में दूसरे के—और के—चीरा लगते देख बहुतों को बेहोशी आ जाती है। मैं इस बात का कायल हूँ कि—

'खूँ रगे मजनूँ से निकला फस्द लैली ने जो ली।'

फिर छोटे भाई की आशंका बेजा न थी; पर उस फूँ और

धमाके से मेरा साहस कुछ बढ़ गया। दुबारा फिर उसी प्रकार लिफाफे को उठाने की चेष्टा की। अबकी बार साँप ने वार भी किया और डंडे से चिपट भी गया। डंडा हाथ से छूटा तो नहीं, पर झिझक—सहम अथवा आतंक—से अपनी ओर को खिंच गया और गुँजलक मारता हुआ साँप का पिछला भाग मेरे हाथों से छू गया! उफ! कितना ठंडा था। डंडे को मैंने एक ओर पटक दिया। यदि कहीं उसका दूसरा वार पहले होता, तो उछल कर मैं साँप पर गिरता और न बचता; लेकिन जब जीवन होता है, तब हजारों ढंग बचने के निकले आते हैं। वह दैवी कृपा थी। डंडे के मेरी ओर खिंच आने से मेरे और साँप के आसन बदल गये। मैंने तुरन्त ही लिफाफे और पोस्ट-कार्ड चुन लिये, चिट्ठियों को धोती के छोर में बाँध दिया; और छोटे भाई ने उन्हें ऊपर खींच लिया।

डंडे को साँप के पास से उठाने में भी बड़ी कठिनाई पड़ी। साँप उससे खुल कर उस पर धरना देकर बैठा था। जीत तो मेरी हो चुकी थी; पर अपना निशान गँवा चुका था। आगे हाथ बढ़ाता, तो साँप हाथ पर वार करता, इसलिए कुएँ की बगल से एक मुट्ठी मिट्टी लेकर मैंने उसकी दाईं ओर फेंकी कि वह उस पर झपटा, और मैंने दूसरे हाथ से उसकी बाईं ओर से डंडा खींच लिया, पर बात-की-बात में उसने दूसरी ओर से

वार किया; यदि बीच में डंडा न होता, तो पैर में उसके दाँत गड़ गये होते।

निवाह और जीत का मोर भी बड़ा विकट होता है। ऊपर चढ़ना कोई कठिन काम न था। केवल हाथों के सहारे, पैरों को बिना कहीं लगाये हुए, ३६ फीट ऊपर चढ़ना मुझसे अब नहीं हो सकता। १५-२० फीट बिना पैरों के सहारे केवल हाथों के बल, चढ़ने की हिम्मत रखता हूँ। कम ही—अधिक नहीं; पर उस ग्यारह वर्ष की आयु में, मैं ३६ फीट चढ़ा। बाहें भर गई थीं। छाती फूल गई थी। धौंकनी चल रही थी; पर एक-एक इंच सरक-सरक कर अपनी भुजाओं के बल मैं ऊपर चढ़ आया। यदि हाथ छूट जाते, तो क्या होता, इसका अनुमान करना कठिन है। ऊपर आकर, बेहाल होकर थोड़ी देर तक पड़ा रहा। देह को झाड़-झूड़ कर धोती और कुर्ता पहना। फिर किशनपुर के लड़के को, जिसने ऊपर चढ़ने की चेष्टा को देखा था, ताकीद करके कि वह कुएँ वाली घटना किसी से न कहे, हम लोग आगे बढ़े।

सन् १९१५ में मैट्रीक्युलेशन पास करने के उपरान्त यह घटना मैंने माँ को सुनाई। सजल नेत्रों से माँ ने मुझे अपनी गोद में ऐसे बैठा लिया, जैसे चिड़िया अपने बच्चों को डैने के नीचे छिपा लेती है।

कितने अच्छे थे वे दिन! उस समय रायफल न थी, डंडा

था। और डंडे का शिकार—कम-से-कम उस साँप का शिकार—रायफल के शिकार से कम रोचक और भयानक न था। बालकपन की वह घटना मैं कभी भूल नहीं सकता। उस घटना के साक्षी परमात्मा को छोड़ कर हम तीन हैं—छोटे रुग्ण भाई पं० जगन्नाथ शर्मा, पाली और स्वयं मैं। शायद पास के वृक्ष भी हैं, जो यों ही खड़े हैं। साँप उसी कुएँ में दबा पड़ा है। कुएँ के स्थान का चिह्न अब भी है। पर वे दिन नहीं हैं, न वह उमंग! अब तो बस—

> मसर्रत हुई, हँस लिये दो घड़ी,
> मुसीबत पड़ी रोके चुप हो रहे॥

बाबू गुलाबराय एम० ए०

[हिन्दी के सुपरिचित समालोचक तथा 'साहित्य-सन्देश' के ख्यात-नामा सम्पादक बाबू गुलाबराय के गंभीर व्यक्तित्व का एक दूसरा पहलू है उनकी विनोद-प्रियता। उन्होंने अपनी सम्पूर्ण आत्मकथा एक सुन्दर साहित्यिक हास्य-प्रधान शैली में 'मेरी असफलताएँ' नाम से लिखी है। उनका 'जीवन-बीमा' का अनुभव पाठकों के मनोरंजनार्थ नीचे दिया जाता है। सं०]

मेरा जीवन-बीमा

लोगों का कथन है कि दो अत्यन्त प्रतिकूल बातें अन्त में आकर मिल जाती हैं। यह युग जितना ही क्रियाशील है उतनी ही इसमें बेकारी बढ़ी हुई है। जिस प्रकार दीपक में कज्जल उत्पन्न होता है उसी प्रकार अत्यन्त क्रिया निष्क्रियता की उत्पादक बन रही है। बेकारी का प्रश्न तो कविकुलचूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदास के समय से चला आता मालूम होता है, क्योंकि उन्होंने कहा है कि—

"खेती न किसान को, भिखारी को न भीख,
बलि बनिक को बनिज, न चाकर को चाकरी॥
जीविका-विहीन लोग सीद्यमान सोच बस,
कहैं एक एकन सौं कहाँ जाइ, का करी।"

तब तो राम भजन से समय कट जाता था और बेकारी नहीं अखरती थी। बेकारी को मानते हुये गोस्वामीजी ने दो काम भी बता दिये थे। "खाने को टुकड़ा भलो लेने को हरि-नाम" लेकिन अब तो टुकड़े में भी हानि आ गई है और रामजी का नाम कुटिल कलि-काल के कुचक्र से अन्य सद्धर्मों की

भाँति लुप्त-प्राय हो गया है। अब श्री गोस्वामीजी ने अपने कथन में स्वयम् ही निम्नलिखित संशोधन स्वर्ग से वायरलेस द्वारा भेजा है—'खाने को टुकड़ा भलो, लेने को विसराम" महात्मा तुलसीदासजी के इस नैराश्य को देख कर एक मन-चले महाशय ने उसमें यह अन्तिम संशोधन कर दिया है—

तुलसी या संसार में, कर लीजो दो काम।
इक चुंगी की मेम्बरी, अरु बीमा को काम।

वास्तव में बीमा के काम ने इस युग में बहुत से लोगों को जाब्ता फौजदारी की १०७, १०८, १०९, या ११० दफा के चंगुल में आने से बचा दिया है। यद्यपि यह सन्देह है कि बीमा के काम से निश्चित रूप से रोटियाँ मिलती हैं या जेल की चहार-दीवारी के भीतर ? रोटियाँ चाहे मिलें या न मिलें बिना किसी योग्यता के लोग 'एजेन्ट' की पदवी से विभूषित हो जाते हैं। आजकल सेवा-धर्म बढ़ जाने से अथवा यों कहिए कि डाक्टरों की संख्या में बढ़ती के कारण साधारण लोगों में फीस देना ऐसा ही बन्द हो गया है जैसा कि दान-धर्म। किन्तु बीमा कम्पनियों की बदौलत डाक्टरों को पूरी-पूरी फीस के दर्शन हो जाते हैं। अखबार वाले भी कुछ थोड़े से बीमा सम्बन्धी विज्ञापन प्राप्त कर बीमा कम्पनियों की खैर मनाते हैं।

बीमा कम्पनी की एजेन्सी मिल जाना कठिन बात नहीं किन्तु पालसी खरीदने वाले आदमी मिल जाना इतना सहज

नहीं है। जमींदार लोग तो पुश्त-दर-पुश्त के लिये निश्चिन्त हैं (यदि यह भद्देपन का महारोग उनको काल-कवलित न कर ले) और बौहरे लोगों को बिचारे काश्तकार सलामत चाहिए, उनकी दिन-दूनी रात-चौगुनी ब्याज पक्की है। फिर वे बीमा जैसी संदिग्ध संस्था की क्यों परवा करें? अब रह गये बेचारे नौकरी पेशा और बेकार लोग। नौकरी-पेशा अवश्य कभी-कभी बीमा वालों के चक्कर में आ जाते हैं। जहाँ उनसे कहा गया कि देखिये कम्पनी कितनी जोखम (रिस्क) लेती है और जहाँ उनके सामने आज-कल की नई-नई बीमारियों के भयंकर चित्र अंकित किये अथवा भूचालों और रेल-दुर्घटनाओं की करुण कथा सुनाई वहाँ उनके हृदय मे बीमा कम्पनी के लिए कुछ स्थान हो गया। और जब उनको बतलाया गया कि वैसे तो आप कुछ नहीं बचा पाते किन्तु इसके कारण आप अनिवार्य रूप से मितव्ययिता (Compulsory Economy) कर सकेंगे, वहीं उन पर जादू पूरा असर कर जाता है। किन्तु वे लोग समयाभाव के कारण सहज मे हाथ नहीं आते। उनके पीछे जब कोई हाथ धोकर सत्तू बाँध कर पड़ जाय तब कहीं उनसे साक्षात्कार हो पाता है। और यदि वे फैशन-भक्त हुये तो उनके ऊपर अनिवार्य मित-व्ययिता का ऐसा ही असर नहीं होता जैसा कि सती के हृदय पर कामी पुरुषों के वचनों का।

बेकार लोगों में दो श्रेणियाँ हैं—प्रथम श्रेणी में तो वे शुद्ध निर्लेप बेकार हैं जिनको न काम से काम है और न दाम का नाम ही सुनाई पड़ता है। दूसरी में वे लोग हैं जिनके पास कुछ काम तो नहीं है किन्तु जीवन के पहले भाग में किये हुये सत्कर्मों के फलस्वरूप मास-प्रति-मास कुछ कलदार आ जाते हैं। ये लोग बेकारी के पवित्र नाम को बदनाम करते हैं। पहले प्रकार के लोगों के पास जाने का तो बीमा कम्पनी वालों को साहस कहाँ ? क्योंकि उनमें से प्रत्येक बीमा कम्पनी के एजेन्ट बनने की प्रबल सम्भावना रखता है। एक पेशे के लोग कभी प्रेम से नहीं रह सकते 'याचको याचकं दृष्ट्वा श्वानवत गुरगुरायते'। दूसरे प्रकार के लोगों के पास जाने का वे थोड़ा-बहुत साहस करते हैं। किन्तु उनकी पचपन साला आयु देख उनसे इतने ही शङ्कित हो जाते हैं जितना कि काले कपड़े से एक ग्रामीण बैल। किसी न किसी क्षेत्र में श्वेत केश वालों को केशव की भाँति पछतावा ही करना पड़ता है। वे लोग तो शायद अपनी जान को सौदा करने का सहज में तैयार हो जायँ किन्तु एजेन्ट लोग उस सौदे को सहज में नहीं स्वीकार करते। बीमा कम्पनियों के सौभाग्य अथवा दुर्भाग्यवश मैं एक ऐसा जन्तु था जो पेंशनयाफ्ता होता हुआ भी ५० साल से कम आयु का था।

जहाँ अड़ोस-पड़ोस के लोगों को मेरी परिस्थिति मालूम हु

वहाँ एजेन्टों ने मेरा पीछा करना शुरू किया। मेरे पास कोई ऐसा दुर्ग न था कि जहाँ जाकर छिप जाता। बीमे के प्रस्ताव होने लगे, सोते-जागते, उठते-बैठते, टहलते दिन-रात बीमा की चर्चा होने लगी। दो एक एजेन्ट तो आपस में वाक्‌युद्ध भी करने लग जाते थे। बीमे के प्रस्तावों के कारण मेरी नींद हराम हो गई। जान का बीमा क्या था जी का जंजाल हो गया। औरों से तो जैसे-तैसे पीछा छुड़ा पाया किन्तु एक महाशयजी मेरे पड़ोस में रहते थे, उनसे पीछा न छुड़ा सका। इत्तफाक से वे ब्राह्मण थे। फिर क्या था? मैं गिरधरजी के शासन में आ गया—विप्र और पड़ोसी को तरह देनी ही पड़ती है।

मैंने उनसे पूछा—"आप काहे का बीमा करना चाहते हैं?" उत्तर मिला 'जान का'। मैंने कहा कि भाई मैं अपनी जान कहीं पारसल करके नहीं भेजना चाहता जो बीमा कराऊँ। मुझसे कहा गया कि बीमा करा कर आप भविष्य के लिए निश्चिंत हो जायँगे। मैं भली प्रकार जानता था कि चिंता और चिता में एक बिन्दी का ही अन्तर है और चिता में जलने के लिए कुछ अभ्यास भी चाहिये था। इसलिए चिन्ता को जो मेरे जीवन की चिर-सङ्गिनी थी सहज में परित्याग नहीं करना चाहता था, लेकिन 'अर्थी दोषं न पश्यति'। एजेन्ट महोदयों पर मेरी युक्ति का इतना भी असर नहीं हुआ जितना कि तवे पर

बूँद का। बाबा तुलसीदासजी के शब्दों को लौट-फेर सकूँ तो कह दूँ 'बुन्द अघात सहैं गिरि जैसे।' उन्होंने मेरी सम्मति— ठीक तो यों है कि मौन रूपी अर्ध सम्मति प्राप्त कर ली। मेरे सामने फार्म रख दिया गया और मैंने ५०००) के लिए आँख बन्द करके दस्तखत कर दिए। ५०००) से कम का बीमा कराना मैं अपनी शान के खिलाफ समझता था क्योंकि अगर कभी इज्जत-हतक का मामला चलाना हुआ तो ५०००) से अधिक का दावा कर सकूँगा। इज्जत जान से ज्यादह मूल्य रखती है। दस्तखत तो सहज में हो गए किन्तु जिस प्रकार विवाह कर लेना आपत्तियों का आरम्भ है, उसी प्रकार दस्तखत कर देना भी आपत्तियों को मोल लेना था। दस्तखत के पश्चात् ही मुझसे पूछा गया कि आपकी जन्मपत्री कहाँ है। मैंने कहा— क्या आप पाराशरी अथवा बृहज्जातक के अनुकूल मेरी आयु का निर्णय करना चाहते हैं? उन्होंने कहा—भविष्य की नहीं वरन् वर्तमान की। मैं तो यह समझता था कि जिस प्रकार उस बीमा के व्यवसाय ने एजेन्टों, डाक्टरों और अखबारों को रोजगार दिया है उसी प्रकार शायद बीमा कम्पनियाँ ज्योतिषियों को भी आजीविका देंगी। आज-कल अँगरेजी पढ़ जाने के कारण लोग ज्योतिषियों से कम काम लेते हैं। जब सनातन धर्मी लोग इस ओर ध्यान देंगे और शुद्ध सनातन धर्मियों की बीमा कम्पनी बनेगी तथा डाक्टरों की

अपेक्षा ज्योतिषियों की परीक्षा को अधिक महत्त्व दिया जायगा किन्तु अभी तो डाक्टरों की ही चलती है।

यदि बीमा कम्पनियों को ज्योतिष में विश्वास होता तो मैं डाक्टरी परीक्षा से बच जाता किन्तु वृथा प्रलाप से क्या लाभ? मेरी नाप-तोल की गई, मानो मैं कोई क्रय-विक्रय की वस्तु था। मुझे तुला पर बैठाया गया। यदि तुला कराई गई होती तो बेचारे ब्राह्मणों का भला होता। मालूम नहीं तुला पर बैठ कर मुझे तुलादान का फल मिलेगा या नहीं? मेरी छाती कमर, पैर सबका नाप हुआ। जब दर्जी नापता है तब यह तो सन्तोष रहता है कि नया सूट पहिनने को मिलेगा, किन्तु यहाँ क्या रक्खा था? बीमार की भाँति पलंग पर लेटना पड़ा। वैसे तो मेरा शरीर रोगों का अड्डा बना हुआ था क्योंकि आजकल 'भोगेनान्तेतनुः त्यजम्' के स्थान में 'रोगेनान्तेतनुःत्यजम्' का पाठ हो गया है। किन्तु मैं बहुत से रोगों के बारे में डाक्टर की आँख में धूल झोंकने में सफल हुआ। एक लम्बी-चौड़ी प्रश्नावली का उत्तर देना पड़ा। यदि सब बातों का बिलकुल सच्चा-सच्चा उत्तर दिया जाय तो स्वयं भगवान धन्वन्तरि भी डाक्टरी की परीक्षा में फेल हो जायँ। मैंने अदालत के सत्य-मूर्ति गवाह की भाँति सच और बिलकुल सच के सिवाय और सब कुछ कहा। लेकिन बकरे की माँ कब तक खैर मना सकती है, मेरे शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग ने मेरे विपरीत गवाही दी।

जब मकनपुर या बटेश्वर की हाट में खरीदे जाने वाले बैल या बछड़े की भाँति मेरे दाँत देखे गये तो टूटे हुए दाँत को न छिपा सका। मैं तो इस बात में महात्मा गाँधी से समानता करके मन खुश कर लेता था। शुष्क हृदय डाक्टर लोग इसे वार्द्धक्य का चिह्न समझते हैं। और स्थान में वृद्ध लोगों का आदर होता है, किन्तु कलियुगी बीमा कम्पनी वाले वयोवृद्ध लोगों का आदर नहीं करते। डाक्टर बिचारे को भी मेरा केस पहला ही मिला था। वे सत्यवक्ता होने की धाक जमाना चाहते थे।

मैंने दाँत के सम्बन्ध में युधिष्ठिरी सत्य भी बोला लेकिन उन्होंने एक न मानी। उन्हें क्या था उन्हें तो फीस से काम, 'मुर्दा चाहे इस घाट जाय चाहे उस घाट जाय बन्दे को कफन से काम।' हाँ बिचारे एजेन्ट महोदय मेरी परीक्षा की सफलता के लिए उतने ही उत्सुक थे जितना कि मैट्रिक का परीक्षार्थी अपने शुभ फल के लिए। यदि मेरा बीमा हो जाता तो शायद मेरे बच्चों को तो मरने के पश्चात् ही धन प्राप्त होता किन्तु एजेन्ट महोदय का कमीशन पक्का था। ५०००) का बीमा हो जाने से उनकी कम्पनी में उनका कुछ आदर भी होने लगता। डाक्टर ने मेरे सामने बहुत चिकनी-चुपड़ी बातें कहीं और मुझे विश्वास हो गया कि शायद मेरा प्रस्ताव स्वीकृत हो जायगा। मै निर्भय जीवन व्यतीत करने का स्वप्न देखने लगा। एवेरेस्ट

की चोटी पर जाने तक के मन्सूबे बाँधने लगा। हिन्दू-मुस्लिम दंगों में शामिल होकर नेता बनने की भी आशा करने लगा किन्तु 'मन चीते क्या होता है प्रभू का चीता होता है।' थोड़े ही दिन पश्चात् बड़ा शिष्टाचार पूर्ण पत्र मिला कि यद्यपि हम इस बात के आपके आभारी हैं कि आपने हमारे यहाँ बीमा करने का निश्चय किया था तथापि हमें खेद है कि आपका प्रस्ताव स्वीकार नहीं कर सकते। पहले तो कुछ आघात-सा लगा लेकिन फिर मन समझा लिया कि आँख फूटी पीर गई। बार-बार त्रैमासिक रुपया भेजने के भार से बचा, बच्चों के लिए तो निश्चित हो जाता किन्तु प्रीमियम भेजने की चिन्ता तो मुझे शीघ्र ही मृत्यु के निकट पहुँचा देती।

फिर मैंने अपना निश्चय बदल दिया कि न मैं अब विज्ञान के लिए अपना बलिदान करूँगा, न धर्म के लिए और न देश और जाति के लिए। सुख की नींद सोकर अपना जीवन व्यतीत करूँगा। बस मैंने सोच लिया कि नाखून और सर के बाल कटा कर आत्म-बलिदान का आत्म-तोष प्राप्त कर लिया करूँगा। सर न सही तो सर के बाल सही। बीमा कम्पनी वाले शायद इस सिद्धांत को नहीं जानते कि रोगी लोग ही चिरजीवी होते हैं क्योंकि उनको रोग के कारण अपना जीवन नियमित रखना पड़ता है। मुझे आशा है कि भले स्कूल के लड़के की भाँति अपना जीवन नियमित रख कर जान-बूझ

कर आग में न कूदूँगा और हनूमान बाबा, अश्वत्थामा, लोमश ऋषि, भगवान भुवन भास्कर सूर्य देव और भूत-भावन मृत्युञ्जय महादेव कृपा करके मुझे दीर्घजीवी बना देंगे। रहा बाल-बच्चों का प्रश्न उनके लिए मैंने सन्तोष कर लिया है कि 'पूत सपूत तो क्यों धन सञ्चय, पूत कपूत तो क्यों धन सञ्चय'। जीवन-बीमा के अंगूर मुझे अब खट्टे प्रतीत होते हैं।*

---

*एक बार फिर बीमा वालों की बातों की फेर में पड़ कर जान का बीमा करा बैठा। एजेन्ट साहब एक रोज मुझे अपनी मोटर में हवा खाने लिवा गये। हवा में मेरा बीमा न कराने का संकल्प हवा हो गया। डाक्टर ने भी सरसरी जाँच की क्योंकि वे काम में अधिक व्यस्त रहते थे। मैं जाँच में पास हो गया, बड़ी प्रसन्नता हुई। किन्तु दुर्भाग्य से वह कम्पनी Liquidation में आगई। प्रीमियम देने से छुट्टी मिली। अब मैं निश्चिन्त हूँ।

'विश्वमित्र'-संचालक श्रीमूलचन्द्र अग्रवाल

[हिन्दी के सामयिक-साहित्य-जगत में 'विश्वमित्र' के दैनिक, साप्ताहिक तथा मासिक संस्करणों की बड़ी धूम है। व्यावसायिक दृष्टि से भी यह हिन्दी का सबसे अधिक संपन्न पत्र है। अत्यन्त सीमित साधनों से आरंभ होने पर भी उसकी यह असाधारण सफलता उसके संचालक श्री मूलचंद अग्रवाल के बुद्धि-कौशल तथा अध्यवसाय की परिचायक है। 'भाग्यचक्र' में उन्होंने अपनी कठिनाइयों का वर्णन किया है।]

भाग्यचक्र

उत्तर प्रदेश से कलकत्ता सात सौ मील दूर। सामने कोई उदाहरण नहीं, उद्देश्य भी सीमित नहीं, लगन भी कोई खास नहीं। बी० ए० में हेडमास्टर बनने की जीवन में सबसे बड़ी अभिलाषा थी, वह भी असंभव कल्पना प्रतीत होती थी। अध्यापकी जीवन के अन्त में उस लक्ष्य तक पहुँचा जा सकता था। एल० टी० डिग्री प्राप्त करने के उद्देश्य से बी० ए० में सरकार के साथ एग्रीमेंट कर बारह रुपये की छात्रवृत्ति ले ली गई थी। एग्रीमेंट के अनुसार ग्रेजुएट को एल० टी० में प्रविष्ट होना ही पड़ा। बी० ए० की परीक्षा प्रयाग में देकर कलकत्ते की ओर अचानक चला आया। पूर्ण स्वतन्त्र था ही अपने निर्णय में। प्रभु के सिवा कोई पथ-प्रदर्शक था ही नहीं अपना। यहाँ आते ही अपने पुराने सहपाठी स्वर्गीय कुँवर गणेश सिंह को साहित्य महारथी आदरणीय श्री हरिकृष्ण जी जौहर की अधीनता में साप्ताहिक हिन्दी 'बंगवासी' का सहकारी सम्पादक देखा और उन्हें दैनिक 'कलकत्ता समाचार'

में भी काम करते देख, यही इच्छा हुई कि कहीं समाचार-पत्र-कार्यालय में काम मिल जाय। कलकत्ते में कुँवर जी को छोड़ कर और किसी से परिचय था ही नहीं। वे थे स्वाभिमानी राजपूत नवयुवक। किसी से क्यों परिचय बढ़ाने लगे, जब तक कोई स्वयं उनसे परिचय न बढ़ाये। ऐसे साथी से कोई आशा न देखकर स्वयं ही भाग्य-परीक्षा आरम्भ कर दी। 'भारत मित्र' के प्रधान संपादक श्रद्धेय पण्डित अम्बिका प्रसाद जी वाजपेयी से उनके निवास स्थान पर जाकर मिला। शीघ्र न पिघलने वाले वाजपेयी जी न जाने क्यों मुझे देखकर पिघलने लगे और कुछ भी अनुभव न होने पर भी उन्होंने 'भारत मित्र' में अनुवादक का कार्य दे दिया। ४५) मासिक की आमदनी का सिलसिला होने पर आनन्द की सीमा न रही। मेरठ से सर सीताराम का एक सिफारिशी पत्र लाया था। उसने चार रुपये मासिक की एक घंटे की ट्यूशन भी दिला दी। पचास में एक रुपये की कमी रह गयी। छात्र-हितकारी मास्टर राधा मोहन गोकुल जी की कृपा से मारवाड़ी लाज में रहने को स्थान मिल गया। थके हुये छात्र-यात्री के दिन विशाल कलकत्ता नगरी में सुख से व्यतीत होने लगे। मन में बड़ी उधेड़बुन थी। कलकत्ता छोड़ कर प्रयाग जाना पड़ेगा। एग्रीमेंट के अनुसार एल० टी० में भर्ती होना पड़ेगा। परीक्षा परिणाम की प्रति-दिन बड़ी इन्तजारी थी।

कालेज का एक चमकता हुआ सितारा माना जाता था, इस-लिए परीक्षा में उत्तीर्ण-अनुत्तीर्ण का प्रश्न था ही नहीं। प्रश्न यह था कि विश्वविद्यालय के छात्रों में कौन-सा स्थान मिलता है। इतिहास की चार सौ पुस्तकें जो पढ़ डाली थीं और संस्कृत की कौमुदी कंठस्थ कर ली थी, अमरकोष भी। संस्कृत लेने वाला बी० ए० का एक छात्र भी इतना पराक्रम नहीं कर सकता था। लीजिये, तार आ गया कि आप फेल हो गये—इतिहास में। प्रश्नों के उत्तर बड़े पाण्डित्य पूर्ण ढंग से चार कापियों में दिये थे और निरीक्षक ने चौथी कापी, समय पूरा हो गया—कह कर जबर्दस्ती छीन ली थी। तार पढ़ते ही विश्वास ही न हुआ कि यह मेरा नतीजा है। जब सहानुभूति और समवेदना के तार पहुँचे, तो जमीन पैर के नीचे से खसकती दिखायी दी और आँखों के सामने वास्तविक अन्धकार उपस्थित हो गया। आज भी रात्रि की गहरी निद्रा में वह परीक्षा-फल स्मरण हो आने पर जोर से रोने लगता हूँ और यह मालूम होता है कि वास्तव में मैं उस दुनिया का यात्री इस समय भी हूँ। कर्मवीर का यह भाग्य—दुर्भाग्य !

एम० ए० और डी-लिट्, पी० एच० डी० के सभी स्वप्न हवा। पत्रकार-कला का सारा नशा एकदम चूर। भूख नाम मात्र को नहीं। किताबें सब बदल गयीं, छात्र-वृत्तियों की अवधि समाप्त—छात्र-निवास में स्थान कैसे मिलेगा। कालेज

की पूरी फीस कहाँ से आयेगी ? अनुत्तीर्ण छात्र के लिये कोई सुविधा नहीं। कलकत्ते में चेष्टा की गई, तो एकदम विफल। विश्वविद्यालय का नियम अनुकूल नहीं। अन्त में मुर्दे के समान मेरठ वापस लौटा। कलकत्ते में जो थोड़े से रुपये एकत्र हुये थे—वे ही सहारे के लिये थे। किसी तरह दिन काटे गये, किताबें खरीदने का सुभीता कहाँ था। फिर परीक्षा हो गयी। इधर-उधर के नोट पढ़ कर काम चलाया और इस बार ज्यादा पाण्डित्य न दिखाने से सफलता आसानी से मिल गयी। पहले के कटु अनुभव के कारण इस बार परीक्षा देकर अपने जन्म-स्थान को चला गया। परीक्षा-फल वहाँ मालूम हुआ; तो फिर कलकत्ता आया। अनुत्तीर्ण होने के कारण सरकारी एग्रीमेंट समाप्त हो चुका था। अब कलकत्ते की ही धुन सवार थी। बाजपेयीजी की पूर्व कृपा का फिर स्मरण हो आया। उस समय का ग्रेजुएट संयुक्त प्रांत में आसानी से सौ डेढ़ सौ रुपये माहवार कमा सकता था, परन्तु 'भारत मित्र' के ४५) की धुन सवार थी। पत्रकार कला के लिए कोई खास आकर्षण न था, परन्तु कोई जबर्दस्त प्रेरणा कर रहा था कि शीघ्र कलकत्ता चले जाओ। कलकत्ता लौटने पर 'भारत मित्र' में स्थान खाली नहीं। कुँवर जी 'कलकत्ता समाचार' के प्रधान सम्पादक हो चुके थे। इसलिए यहाँ सहकारी सम्पादकी मिल गयी।

महेश्वरी सेठों ने अग्रवालों के समान एक अँग्रेजी विद्यालय स्थापित किया। श्री गंगाप्रसाद जी भोतिका एम० ए०, बी० एल०, 'काव्यतीर्थ' उसके प्रधान शिक्षक थे। एक उच्च शिक्षा प्राप्त मारवाड़ी युवक ४५) मासिक की हेड मास्टरी कब तक कर सकता था। इतने अल्प वेतन में हिन्दी भाषी ग्रेजुएट उत्तराधिकारी मिलना उन दिनों कहाँ सम्भव था, परन्तु अग्रवालजी तो सब जगह अपनी टाँग अड़ाने के लिये कलकत्ता पहुँचे हुये थे। वे दर दाम पर कभी नहीं विचार करते थे। हेडमास्टरी का लोभ किस तरह छोड़ते, यद्यपि स्कूल पाँच-छः क्लास तक की ही शिक्षा देता था। श्रद्धेय बाबू राव जी विष्णु पराड़कर मारवाड़ी नवयुवकों में बड़ा प्रभाव रखते थे। उनकी सिफारिश पर मैं महेश्वरी विद्यालय का प्रधान अध्यापक नियुक्त हो गया। हेडमास्टर होने से सवेरे एक घंटे की अच्छी ट्यूशन भी उसी विद्यालय से एक छात्र की मिल गयी। कलकत्ता समाचार से ४५) मिलने की बात तय हो चुकी। लगभग सवा सौ रुपये महीने की आमदनी का प्रबन्ध हो गया और ग्रेजुएट होने का पूर्ण पुरस्कार सामने आ गया। अब तो इधर-उधर मनिआर्डर भी दौड़ने लगे और बक्स में रुपयों की चमक बढ़ती दिखायी देने लगी। कानून की डिग्री पाने के लिये ला कालेज में नाम लिखा लिया। सवेरे ट्यूशन, इसके बाद दस बजे तक सहकारी सम्पादकी, इसके बाद हेड मास्टरी, इसके

बाद फिर छात्र। हेड मास्टरी के सामने छात्र जीवन ज्यादा दिन टिक न सका।

मैं बहुपरिश्रम और थकावट नाम की चीज से एक दम अनभिज्ञ था। रात को भी 'कलकत्ता समाचार' पहुँच जाता और जब रात के ८-९ बजे फोरमैन महाशय कुँवर जी के पास डरते हुये अग्रलेख माँगने पहुँचते, तो मामूली वार्तालाप में व्यस्त कुँवर जी उनसे पूँछते कि मूलचन्द्र जी हैं या नहीं। यदि उन्हें पता चलता कि मैं मौजूद हूँ, तो रात के ९ बजे मुझसे ही अग्रलेख ले लेने का आदेश दे देते। उसी समय ध्यानपूर्वक समाचार-पत्र पढ़कर अग्रलेख तैयार कर देना पड़ता और रात के ११—१२ बजे घर वापस आता। जब कुँवर जी अपने घर लम्बी छुट्टी लेकर जाते, तो उनकी अनुपस्थिति में अग्रलेख लिखने का काम मुझे ही करना पड़ता। न तो ओवर टाइम का प्रश्न था, न शोषण की चर्चा। प्रसन्न चित्त आर्डर के अनुसार हर समय काम करने को तैयार रहता था। अग्रलेख लिखने का अभ्यास हुआ और इस सुअवसर से खासा लाभ उठाया गया। प्रधान सम्पादकी के कीटाणु मस्तिष्क में धीरे-धीरे घुसने लगे, परन्तु वह मिलती कहाँ। किसी ने बड़े जोर से धक्का मार कर कहा कि प्रधान सम्पादकी अपना पत्र खोलने पर ही मिलेगी, दैनिक या साप्ताहिक? साप्ताहिक का तो नाम ही नहीं याद था। सच मानिये। वाजपेयीजी, पराड़करजी, कुँवरजी

दैनिक के ही तो सम्पादक थे। मौजी के मनोरंजन की 'भारत-मित्र' प्रकाशित होने के कारण काफी चर्चा होती थी। अग्रवालजी हास्याचार्य तो थे नहीं, परन्तु न जाने कहाँ से दिमाग में 'रमता योगी' घुस गया। कलकत्ते में उनके मनोरंजन ने इतनी धूम मचायी कि दानवीर सेठ युगल किशोर जी विड़ला ने प्रभावित होकर एक वार अपने मुनीम से पन्द्रह सौ रुपये भेज दिये और आग्रहपूर्ण निमन्त्रण दिया सम्पादकजी को मुलाकात के लिये। सञ्चालकजी को जरा पता न था कि समाचार-पत्र रुपये पाया करते हैं सर्व साधारण से। यदि किसी प्रकार इस बात का पता लग जाता, तो बहुत से सङ्कटों का सामना न करना पड़ता, परन्तु न जाने उद्योग किस दिशा में परिवर्तित हो जाता। इतने बड़े और सम्पन्न नगर में सम्पन्न व्यापारी समाज के बीच यह साधारण बात मालूम नहीं, यह आज विश्वास करने योग्य नहीं।

हेड मास्टर साहब अभी तक अविवाहित ही नहीं थे, उन्हें पता न था कि स्त्री नाम की कोई आकर्षक चिड़िया इस संसार में रहती है। यदि पता होता, तो इधर-उधर जरूर नजर दौड़ाते। वाइस्कोप, सिनेमा का तो ग्रेजुएट महाशय ने नाम ही सुना था। कुँवरजी के साथ रामायण महाभारत देखने गये थे; मन ही मन सीताजी को प्रणाम करते रहे। महामहोपाध्याय पण्डित सकलनारायणजी शर्मा

के कमरे के पास एक कमरा किराये पर ले रक्खा था। रात को दस बजे कमरे में आता और सबेरे सात बजे स्नानादि कर गायब हो जाता। पता नहीं था कि उस विशाल मकान में कितनी स्त्रियाँ और लड़के-लड़कियाँ हैं। अपनी धुन में रात दिन मस्त।

हेड मास्टरी और सम्पादकी दोनों की ओर पूरा ध्यान देना आवश्यक था। सेठों ने स्कूल तो खोल दिया था, परन्तु महायुद्ध के दिनों में जूट एसोसियेशन का बाजार इतना गर्म था और इतना डाँवाडोल रहता था कि संस्थापकों को विद्यालय की ओर ध्यान देने का अवसर ही नहीं मिलता था। हेड मास्टरी ग्रहण करते समय मैंने चालीस-पचास छात्र पाये थे। हेड मास्टर की तत्परता से छात्रों की संख्या बढ़ने लगी। तीन-चार छोटे कमरे काफी न दिखायी दिये, तो एक पूरा मकान चार सौ रुपये माहवारी किराये पर ले लिया गया और छात्र भी बढ़ कर चार सौ के लगभग हो गये। पढ़ाई मेट्रीकुलेशन तक होने लगी। अपने छोटे भाई को भी मैंने कलकत्ता बुला लिया था और अँग्रेजी न जानने पर भी उसे अपनी हेडमास्टरी के भरोसे मिडिल में भर्ती कर दिया था। बेतों की मार से उसे एक वर्ष में मेट्रिक पास करा देने की धुन सवार थी। विद्यालय में महात्मा गाँधी और महामना मालवीय जी के पदार्पण ने नयी जान डाल दी।

यह श्रेय सर्व प्रथम इसी विद्यालय को प्राप्त हुआ था। हेड मास्टर की खासी धूम मच गयी।

६ घंटे का समय लेकर अस्सी रुपये माहवार देने वाली हेड मास्टरी छोड़ देनी चाहिये यह बात तो प्रतिदिन निश्चित होती चली जाती थी, परन्तु आय का कोई स्पष्ट मार्ग न था। माता और छोटे भाई के सिवा एक सम्पन्न पिता की पुत्री धर्म पत्नी बनकर आ चुकी थी। कलकत्ते का व्यय था। किसी से कोई खास परिचय नहीं। वाहवाही करने वाले अनेक, परन्तु सहायता को कोई नहीं। श्वसुर से मिले हुये दो हजार रुपयों पर आँख गड़ी हुई थी। अधूरी सम्पादकी तो की थी, परन्तु प्रबन्ध या पत्र-सञ्चालन का कोई अनुभव न था। यदि थोड़ा भी अनुभव होता, तो श्रद्धेय वाजपेयी जी के शब्दों में कलकत्ता महा नगरी में दैनिक 'विश्वमित्र' खोलने का दुस्साहस वास्तव में नहीं कर सकता था। अनुभव शून्यता ही मेरी सच्ची सहा-यक हुई। दुस्साहस तो बचपन से मेरे जीवन का प्रधान अंग बन चुका है और लाख पश्चात्ताप कर लेने पर भी वह मेरा पीछा नहीं छोड़ता। वह मुझे भूत की तरह अपनाए हुये है और मैं उसके चंगुल में शायद जीवन-भर फँसा रहूँ। पुत्र में भी वही दुर्गण आता देख इसे पारिवारिक रोग समझ भयभीत हूँ। कुछ दिन की उधेड़-बुन के बाद एक दिन हेडमास्टरी से छात्रों के अश्रुपात के बीच विदा ही ले ली। 'कलकत्ता-समाचार'

का वेतन एक वर्ष से न लिया था। कुँवर जी ने ५४०) विवाह में खर्च कर वर्ष-भर का हिसाब साफ कर दिया। विचित्र मानसिक परेशानी में फँसा हुआ था। दिमाग आसमान पर था और पैर दलदल में। लक्षाधीश श्वसुर और जीवन-संघर्ष में फँसा हुआ दामाद। मारवाड़ी श्वसुर होता, तो एक चेक भेज कर सब समस्याएँ हल कर देता, परन्तु यहाँ तो तूफानी श्वसुर से संबंध था, जो रात-दिन कल्पनाओं में ही फँसे रहते थे और सामने परोसी हुई थाली का अन्न भी अच्छी तरह मुँह में नहीं डाल सकते थे। कभी मिल-मालिक बनने की योजना तो कभी सिनेमा का सञ्चालक। लड़की और दामाद की ओर कौन ध्यान दे?

लड़ाई का जमाना था। चीजे बहुत महँगी हो रही थी। कागज का भाव बारह आना हो चुका था। प्रेस का सामान ढूँढ़ने से भी नहीं मिलता था। बिजली के नये कनेक्शन नही दिये जाते थे। एक मारवाड़ी सज्जन लेन-देन का कारबार करते थे। वे अपने लड़कों से मिलने जब स्कूल में आते तो हेड मास्टर से भी मिल लेते। उनसे पता चला कि उन्होंने एक बंगाली को कुछ रुपये ऊँचे व्याज पर उधार दे रखे हैं और वह प्रेस मालिक एक साझीदार की तलाश में है। उन्होंने प्रेस भी दिखा दिया और प्रेस प्रोप्राइटर से मुलाकात भी करा दी। प्रेस में एक कम्पोजीटर था, एक ट्रेडिलमैन, एक प्रेसमैन

और एक इंकमेन। प्रोप्राइटर महाशय भी हाजिर नहीं मिलते थे। प्रेस में बाहर की छपाई का काम होता था। तीन चार बहुत बड़े यूरोपियन फर्मों से छपाई का काम मिलता था। हर महीने हजार बारह सौ रुपए की आमदनी बतायी गयी, परन्तु पानी पीने का गिलास देखने से लक्ष्मी की अकृपा स्पष्ट हो रही थी। ७२ तरह के अँग्रेजी टाइप प्रेस में बताये गये, परन्तु लकड़ी के १४४ केस होने पर भी टाइपों का कुल वजन ४-५ मन से ज्यादा न होगा। एक हैंड प्रेस और ट्रेडिल थी। अपने राम को बाहरी छपाई से धनोपार्जन की इच्छा थी ही नहीं, पत्र संचालक बनना था। ऐसा प्रेस आवश्यक था जिसमें जरूरत पड़ने से 'टाइम्स आफ इंडिया' का सचित्र साप्ताहिक संस्करण तक छापा जा सके। इतने विशाल आयोजन को दिमाग में रखने वाला इससे बड़ा और इससे अधिक उपयुक्त और कौन प्रेस कलकत्ते में पाता। खासकर नकद रुपयों के अभाव में। परमात्मा ने खूब जोड़ी मिला दी—एक अन्धा एक कोढ़ी। साझीदार को मोटी मुर्गी समझने वाला और प्रेस को 'टाइम्स आफ इंडिया' से टक्कर लेने वाला, समझने वाले दो दीवाने कलकत्ता महानगरी में ईसा के सन् १९१७ में।

परिशिष्ट

संस्मरण तथा आत्मकथाएँ

महात्मा गाँधी	आत्मकथा, भाग १, २
	संक्षिप्त आत्मकथा
महात्मा टॉल्सटाय	मेरी मुक्ति की कहानी
	टाल्सटाय की डायरी
श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर	जीवन स्मृतियाँ
	मेरा बचपन
पं० जवाहरलाल नेहरू	मेरी कहानी
श्री स्वामी श्रद्धानन्द	कल्याण मार्ग का पथिक
डा० श्यामसुन्दर दास	मेरी आत्मकहानी
श्री गुलाबराय	मेरी असफलताएँ
श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन	जो न भूल सका
श्रीमती महादेवी वर्मा	अतीत के चल चित्र
	स्मृति की रेखायें
श्री मूलचन्द्र अग्रवाल	पत्रकार की आत्मकथा
श्री राहुल सांकृत्यायन	मेरी तिब्बत यात्रा
	मेरी यूरोप यात्रा
डा० धीरेन्द्र वर्मा	योरप के पत्र

पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी	बाणभट्ट की आत्मकथा
श्री बनारसी दास जैन	अर्द्ध कथानक (पद्य)
(१७ वीं शताब्दी के एक कवि)	
पं० रामनरेश त्रिपाठी	तीस दिन : मालवीय जी के साथ
श्रीमती शिवरानी देवी	प्रेमचन्द : घर में
श्री मोहनलाल महतो 'वियोगी'	सप्त सुमन
श्री प्रभुदयाल विद्यार्थी	महापुरुषों की जीवन झाँकी
पं० श्रीराम शर्मा	बोलती प्रतिमा
	शिकार
श्री हरिहरनाथ टंडन	साहित्यिक संस्मरण
श्री प्रेमनारायण टंडन	पुण्य-स्मृतियाँ
	साहित्यिकों के संस्मरण
ठाकुर रामसिंह	जीवन स्मृतियाँ

कल की बात (१३ आत्मकथाएँ)

'हंस' का आत्मकथांक (१९३२)

'साधना' का परिचयांक